[2025] 8 एससीआर 1997 : 2025 आईएनएससी 997

के. प्रभाकर हेगड़े

बनाम

बैंक ऑफ बड़ौदा

(सिविल अपील संख्या 6599/2025)

19 अगस्त 2025

[दीपांकर दत्ता* एवं प्रशांत कुमार मिश्रा, न्यायमूर्ति]

विचारणीय मुद्दा

(i) क्या विजया बैंक (जो वर्ष 2019 में उत्तरदाता में विलय हो गया) द्वारा प्रारंभिक जांच करने हेतु नियुक्त अधिकारी द्वारा तैयार की गई प्रारंभिक जांच रिपोर्ट, जो स्वयं प्रबंधन का एकमात्र साक्षी भी था, को उपलब्ध न कराना, अपीलकर्ता के विरुद्ध पश्चात आयोजित नियमित जांच को अवैध (vitiate) करने के लिए पर्याप्त था; (ii) क्या जांच अधिकारी द्वारा साक्ष्य में उसके विरुद्ध आए परिस्थितियों पर अपीलकर्ता से सामान्यतः प्रश्न न करना, जैसा कि विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 के विनियम 6(17) में अपेक्षित है, जांच को अवैध बना देता है; (iii) क्या अपीलकर्ता के सेवानिवृत्ति के पश्चात भी उसके विरुद्ध विभागीय कार्यवाही को जारी रखना, 1981 के विनियमों के अंतर्गत अनुमन्य था।

शीर्ष टिप्पणियां

विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 - अपीलकर्ता को सेवा से बर्खास्त किया गया - क्या विजया बैंक द्वारा प्रारंभिक जांच करने हेतु नियुक्त अधिकारी, जो प्रबंधन का एकमात्र साक्षी भी था, द्वारा तैयार की गई प्रारंभिक जांच रिपोर्ट की प्रति न दिए जाने से, अपीलकर्ता के विरुद्ध पश्चात संचालित नियमित जांच अवैध हो जाती है?

अभिनिर्धारित: 1. वर्तमान मामले में, जांच प्रतिवेदन के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि जांच अधिकारी ने प्रारंभिक जांच रिपोर्ट पर कोई निर्भरता नहीं रखी है– अतः उक्त रिपोर्ट की प्रति अपीलकर्ता को न दिए जाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हालाँकि, यह तर्क दिया गया कि प्रारंभिक जांच रिपोर्ट की प्रति न दिए जाने से अपीलकर्ता को प्रतिकूल प्रभाव (prejudice) हुआ, क्योंकि इससे वह साक्षी का प्रभावी प्रतिपरीक्षण (cross-examination) नहीं कर सका– यह तर्क स्वीकार्य नहीं है। अपीलकर्ता को नियमों के अनुसार साक्षी का बयान उपलब्ध कराया गया था, उसे साक्षी का प्रतिपरीक्षण करने का पूर्ण अवसर भी दिया गया, तथा जांच अधिकारी ने अपने निष्कर्ष केवल मुख्य परीक्षण (chief examination) एवं प्रतिपरीक्षण के दौरान दर्ज साक्ष्य पर आधारित किए, न कि प्रारंभिक जांच रिपोर्ट पर। अतः न तो प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का कोई उल्लंघन हुआ है और न ही प्रारंभिक जांच रिपोर्ट की प्रति न दिए जाने से अभियुक्त अधिकारी को कोई वास्तविक प्रतिकूलता हुई है। [पैरा 27-29]

विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 - विनियम 6(17) - अपीलकर्ता को सेवा से बर्खास्त किया गया - क्या जांच अधिकारी द्वारा साक्ष्य में उसके विरुद्ध उभरी परिस्थितियों पर अपीलकर्ता से सामान्य प्रश्न न करना, जैसा कि विनियम 6(17) में अपेक्षित है, जांच को अवैध (vitiate) कर देता है; तथा क्या अपीलकर्ता के विरुद्ध सेवानिवृत्ति के पश्चात भी विभागीय कार्यवाही जारी रखना, 1981 के विनियमों के अंतर्गत अनुमन्य था?

अभिनिर्धारित: जांच अधिकारी द्वारा साक्ष्य में उपलब्ध उन परिस्थितियों पर, जो अपीलकर्ता के विरुद्ध प्रतिकूल थीं, सामान्य प्रश्न न करना, उसकी एक अनिवार्य कर्तव्य के निर्वहन में विफलता है– वर्तमान मामले में, अपीलकर्ता ने इस संबंध में अनुशासनिक प्राधिकारी के समक्ष कोई विशिष्ट आपत्ति नहीं उठाई, बल्कि अपीलीय प्राधिकारी के समक्ष सामान्य रूप से विनियम 6 के अनुपालन न होने का मुद्दा उठाया– तथापि, अपीलकर्ता इस शिकायत को उठाने में उचित है कि उसे विनियम 6 के अनुसार अपना बचाव प्रस्तुत करने हेतु निष्पक्ष, युक्तिसंगत एवं पर्याप्त अवसर प्रदान नहीं किया गया, जिससे संविधान के अनुच्छेद 14 के अंतर्गत संरक्षित उसके अधिकार का उल्लंघन हुआ– सामान्य परिस्थितियों में, उपर्युक्त चर्चा के आधार पर उचित निर्देश यह होता कि मामले को अनुशासनिक प्राधिकारी को इस निर्देश के साथ पुनः प्रेषित किया जाए कि वह जांच को उस चरण से पुनः प्रारंभ करे, जहाँ से वह अवैध हुई थी, अर्थात जांच अधिकारी को 1981 के विनियमों के विनियम 6(17) का कड़ाई से पालन करने हेतु बाध्य किया

जाए– किन्तु, ऐसे कुछ कारक हैं जो पुनः प्रेषण (remand) के आदेश में बाधा उत्पन्न करते हैं– प्रमुखतः, विजया बैंक के उत्तरदाता में विलय के कारण अभिलेखों की उपलब्धता का अभाव तथा विभागीय कार्यवाही के समाप्त हुए काफी समय बीत जाना– यह भी ध्यान देने योग्य है कि विभागीय कार्यवाही अपीलकर्ता की सेवानिवृत्ति के पश्चात भी जारी रखी गई थी– इस न्यायालय द्वारा पारित किए जाने वाले अंतिम आदेश के दृष्टिगत, तीन प्रमुख प्रश्नों में से तीसरे प्रश्न पर विचार नहीं किया गया है और उसे खुला छोड़ा गया है– अतः पुनः प्रेषण का आदेश देने से कोई उपयोगी उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। [पैरा 55, 58, 72]

विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 - विनियम 6(17) - अपीलकर्ता को सेवा से बर्खास्त किया गया - क्या अनिवार्य सेवानिवृत्ति (compulsory retirement) के प्रस्तावित दंड को केंद्रीय सतर्कता आयोग की सिफारिश के आधार पर सेवा से बर्खास्तगी (dismissal) में परिवर्तित किया जा सकता था?

अभिनिर्धारित: अनिवार्य सेवानिवृत्ति के प्रस्तावित दंड को केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) की सिफारिश के आधार पर, उक्त सिफारिश की प्रति अपीलकर्ता को उपलब्ध कराए बिना, सेवा से बर्खास्तगी में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था– इस सीमा तक अपीलीय आदेश विधिसम्मत नहीं है और टिकाऊ नहीं ठहरता। [पैरा 71]

विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 - विनियम 6(17) - अपीलकर्ता को सेवा से बर्खास्त किया गया - सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देश।

अभिनिर्धारित: अपीलकर्ता की आयु (वह वर्तमान में अस्सी वर्ष से अधिक आयु के हैं) तथा यह तथ्य कि उनके विरुद्ध अन्य विभागीय कार्यवाहियां लंबित थीं, जिन्हें सेवा से बर्खास्त किए जाने के कारण तार्किक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाया जा सका, को दृष्टिगत रखते हुए, इस न्यायालय का विचारित मत है कि न्यायहित निम्नलिखित निर्देशों द्वारा पर्याप्त रूप से पूर्ण होगा– (i) अपीलकर्ता किसी भी सेवानिवृत्ति लाभ (terminal benefits) का हकदार नहीं होगा, सिवाय उस सीमा तक जो नीचे निर्दिष्ट है; (ii) वह केवल एकमुश्त राशि पाने का अधिकारी होगा, जो उस ग्रेच्युटी के बराबर होगी, जो उसे देय होती यदि उसे सेवा से बर्खास्त न किया गया होता; (iii) उक्त एकमुश्त राशि अपीलकर्ता के पक्ष में इस आदेश की तिथि से आठ सप्ताह के भीतर जारी की जाए; (iv) उक्त राशि पर किसी प्रकार का ब्याज देय नहीं होगा; (v) तथापि,

यदि उक्त राशि निर्धारित अवधि के भीतर जारी नहीं की जाती है, तो उस पर 9% प्रति वर्ष की दर से ब्याज देय होगा; तथा (vi) इन परिस्थितियों में बर्खास्तगी का आदेश निरस्त माना जाएगा। [पैरा 73]

विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 - विनियम 6(17); अखिल भारतीय सेवाएं (अनुशासन एवं अपील) नियम, 1969 - नियम 8(19) - 'may' तथा 'shall' का प्रयोग।

अभिनिर्धारित: विनियम 6(17) तथा नियम 8(19) दोनों में 'may' और 'shall' शब्दों का प्रयोग किया गया है– विनियम 6(17) के प्रथम भाग में 'may' का प्रयोग है, जबकि द्वितीय भाग में 'shall' का प्रयोग किया गया है– अभियुक्त अधिकारी को उसके विरुद्ध साक्ष्य में उभरने वाली परिस्थितियों को स्पष्ट करने का अवसर देने हेतु यह प्रावधान जांच अधिकारी को एक ओर विवेकाधिकार प्रदान करता है तथा दूसरी ओर उस पर एक अनिवार्य कर्तव्य भी आरोपित करता है– यदि अभियुक्त अधिकारी स्वयं बचाव साक्षी के रूप में उपस्थित होता है, तो उससे प्रश्न करना जांच अधिकारी के लिए वैकल्पिक (discretionary) है; किन्तु यदि वह स्वयं साक्षी के रूप में प्रस्तुत नहीं होता, तो विधि का स्पष्ट निर्देश है कि जांच अधिकारी उस पर आरोपित परिस्थितियों के संबंध में उससे सामान्यतः प्रश्न करेगा– एक ही प्रावधान में 'may' और 'shall' के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि विनियम 6(17) का अभिप्राय वही है जो उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है– 'may' और 'shall' का प्रयोग अपने-अपने अर्थों में किया गया है, और ऐसी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती जिससे यह माना जाए कि द्वितीय भाग में प्रयुक्त 'shall' को भी 'may' के रूप में पढ़ा जाए– 'shall' शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है, ताकि यह स्पष्ट हो कि यह 'may' के समान विनिमेय नहीं है; यदि ऐसा अभिप्राय होता, तो विधि-निर्माताओं द्वारा 'shall' के स्थान पर सीधे 'may' का ही प्रयोग किया जाता– इस प्रकार, 'may' और 'shall' के पृथक अर्थ, प्रभाव एवं परिणाम हैं, और एक ही जांच में उनके अलग-अलग परिणाम उत्पन्न होते हैं– इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि विनियम 6(17) का प्रथम भाग निर्देशात्मक (directory) है, जबकि द्वितीय भाग अनिवार्य (mandatory) है। [पैरा 53, 54]

सेवा विधि - विभागीय जांच - प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन - कब इसे आरोपित/दोषारोपित कर्मचारी को प्रदान किया जाना आवश्यक है।

अभिनिर्धारित: (i) प्रारंभिक जांच इस उद्देश्य से की जाती है कि यह निर्धारित किया जा सके कि नियमित विभागीय कार्यवाही आवश्यक है या नहीं;

(ii) प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन एक आंतरिक दस्तावेज होता है;

(iii) यदि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन या उसके निष्कर्ष ऐसे मौखिक या दस्तावेजी साक्ष्य पर आधारित हों जो आरोपित कर्मचारी की अनुपस्थिति में एकत्र किए गए हों और उन्हें नियमित जांच में उसकी उपस्थिति में प्रस्तुत न किया गया हो, तो ऐसे प्रतिवेदन/निष्कर्षों का उपयोग जांच प्रतिवेदन में निष्कर्ष निकालने हेतु नहीं किया जा सकता;

(iv) यदि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन या उसके निष्कर्षों पर निर्भर किया जाना हो, तो जिन साक्षियों के बयान उस प्रतिवेदन के लिए आधार बने हैं, उन्हें जांच अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए तथा आरोपित कर्मचारी को उनका प्रतिपरीक्षण करने का अवसर दिया जाना चाहिए;

(v) यदि जांच प्रतिवेदन में प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन पर निर्भरता की जाती है, तो उसकी प्रति आरोपित कर्मचारी को उपलब्ध कराई जानी अनिवार्य है;

(vi) एक बार आरोपपत्र तैयार होकर आरोपित कर्मचारी को प्रदान कर दिया जाता है, जिसमें आरोपों का विवरण होता है, तब प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन का महत्व समाप्त हो जाता है और उसे उपलब्ध कराना आवश्यक नहीं होता। [पैरा 25]

सेवा विधि - सेवा से बर्खास्तगी - प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत - जब अनुशासनिक प्राधिकारी दंड निर्धारण के उद्देश्य से केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) की सिफारिश पर विचार करता है।

अभिनिर्धारित: केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) की सिफारिश ने अनुशासनिक प्राधिकारी के निर्णय पर इतना प्रभाव डाला कि प्रस्तावित दंड 'अनिवार्य सेवानिवृत्ति' को बदलकर अपीलकर्ता की सेवा से बर्खास्तगी कर दी गई– अपीलकर्ता की जानकारी के बिना CVC की सिफारिश प्राप्त करना तथा उसे कम दंड के लिए निवेदन करने का अवसर न देना, जांच को अवैध बना देता है– CVC की सिफारिश ऐसा प्रासंगिक सामग्री (material) थी, जिस पर अनुशासनिक प्राधिकारी ने कम से कम दंड निर्धारण के उद्देश्य से विचार किया– अतः जब ऐसी सिफारिश पर विचार किया गया, तब उसकी प्रति अपीलकर्ता को प्रदान करना अनिवार्य था– प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का पालन आवश्यक है– किसी आरोपित अधिकारी को उस किसी भी सामग्री से वंचित नहीं किया जा सकता, जिस पर अनुशासनिक प्राधिकारी दंड निर्धारण के लिए विचार करता है। [पैरा 64]

सेवा विधि - विभागीय कार्यवाही - केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) की सिफारिश का प्रकटीकरण न करना - विशेषाधिकार का दावा।

अभिनिर्धारित: वर्तमान मामले में, अपीलीय प्राधिकारी द्वारा अपीलकर्ता को केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) की सिफारिश का प्रकटीकरण न करने के समर्थन में किया गया विशेषाधिकार का दावा पूर्णतः भ्रांत पाया गया– विशेषाधिकार का दावा यांत्रिक या स्वचालित रूप से नहीं किया जा सकता, बल्कि उसे केवल उन परिस्थितियों तक सीमित होना चाहिए जहाँ वास्तव में सार्वजनिक हित को गंभीर क्षति पहुँचने की आशंका हो– प्रत्येक मामले का मूल्यांकन उसके तथ्यों के आधार पर पृथक रूप से किया जाना चाहिए, और राज्य को यह पूर्णतः संतुष्ट होना चाहिए कि दस्तावेजों के प्रकटीकरण से सार्वजनिक हित को गंभीर हानि होगी– केंद्रीय सतर्कता आयोग की सिफारिश का "राज्य के कार्यों" (affairs of the State) से कोई संबंध नहीं था, और न ही, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 123 के आलोक में, उसका राष्ट्रीय सुरक्षा से कोई सरोकार था– अतः विशेषाधिकार का दावा असंगत और अवैध था। [पैरा 66, 70]

उद्धृत निर्णयजन्य विधि

ओल्गा टेलिस बनाम बॉम्बे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन **[1985] सप्लिमेंट 2 एससीआर 51 : (1985) 3 एससीसी 545**; *भारत संघ बनाम तुलसीराम पटेल* **[1985] सप्लिमेंट 2 एससीआर 131 : (1985) 3 एससीसी 398**; *ए. आर. अंतुले बनाम आर. एस. नायक* **[1988] सप्लिमेंट 1 एससीआर 1 : (1988) 2 एससीसी 602**; *चम्पकलाल चिमनलाल शाह बनाम भारत संघ* **[1964] 6 एससीआर 190 : 1963 एससीसी ऑनलाइन एससी 42**; *ईसीआईएल बनाम बी. करुणाकर* **[1993] सप्लिमेंट 2 एससीआर 576 : (1993) 4 एससीसी 727 - अनुसरित।**

एसबीआई बनाम डी. सी. अग्रवाल **[1992] सप्लिमेंट 1 एससीआर 956 : (1993) 1 एससीसी 13**; *मोहम्मद कुरामुद्दीन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य* **(1994) 5 एससीसी 118**; *पंजाब राज्य बनाम सोधी सुखदेव सिंह* **[1961] 2 एससीआर 371 : 1960 एससीसी ऑनलाइन एससी 38**; *पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ* **[2004] 1 एससीआर 232 : (2004) 2 एससीसी 476 - पर निर्भर**।

एस. एल. कपूर बनाम जगमोहन **[1981] 1 एससीआर 746 : (1980) 4 एससीसी 379**; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राम प्रकाश सिंह* **[2025] 5 एससीआर 275 : 2025 एससीसी ऑनलाइन एससी 891**; *सुनील कुमार बनर्जी बनाम पश्चिम बंगाल राज्य एवं अन्य* **[1980] 3 एससीआर 179 : (1980) 3 एससीसी 304**; *भारत संघ बनाम आलोक कुमार* **[2010] 5 एससीआर 35 :**

(2010) 5 एससीसी 349; *विजय कुमार निगम बनाम मध्य प्रदेश राज्य* **[1996] सप्लिमेंट 8 एससीआर 544 : (1996) 11 एससीसी 599**; *सिंडिकेट बैंक एवं अन्य बनाम वेंकटेश गुरुराव कुराटी* **[2006] 1 एससीआर 920 : (2006) 3 एससीसी 150**; *यूको बैंक बनाम राजिंदर लाल कपूर* **[2007] 7 एससीआर 543 : (2007) 6 एससीसी 694**; *के. सी. मैथ्यू बनाम त्रावणकोर-कोचीन राज्य* **[1955] 2 एससीआर 1057 : एआईआर 1956 एससी 241**; *बिभूति भूषण दास गुप्ता बनाम पश्चिम बंगाल राज्य* **[1969] 2 एससीआर 104 : एआईआर 1969 एससी 381**; *तारा सिंह बनाम राज्य* **[1951] 1 एससीआर 729 : (1951) एससीसी 903**; *कृष्ण चंद्र टंडन बनाम भारत संघ* **(1974) 4 एससीसी 374**; *चंद्रमा तिवारी बनाम भारत संघ* **[1988] 1 एससीआर 1102 : (1987) सप्लिमेंट एससीसी 518**; *नारायण दत्तात्रेय रामतीर्थाखर बनाम महाराष्ट्र राज्य* **[1996] सप्लिमेंट 8 एससीआर 939 : (1997) 1 एससीसी 299**; *निर्मला जे. झाला बनाम गुजरात राज्य* **[2013] 5 एससीआर 200 : (2013) 4 एससीसी 301**; *मनोज कुमार बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* **(2018) 13 एससीसी 161**; *राम शंकर सिंह बनाम पश्चिम बंगाल राज्य* **[1962] सप्लिमेंट 1 एससीआर 49 : एआईआर 1962 एससी 1239**; *शरद बिर्धीचंद सारडा बनाम महाराष्ट्र राज्य* **[1985] 1 एससीआर 88 : (1984) 4 एससीसी 116**; *महेश्वर टिग्गा बनाम झारखंड राज्य* **[2020] 9 एससीआर 482 : (2020) 10 एससीसी 108**; *हरियाणा वित्तीय निगम बनाम कैलाश चंद्र आहूजा* **[2008] 10 एससीआर 222 : (2008) 9 एससीसी 31**; *बृज नंदन कंसल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* **[1988] 3 एससीआर 79 : (1988) सप्लिमेंट एससीसी 761**; *अमर चंद बुटैल बनाम भारत संघ*, **एआईआर 1964 एससी 1658**; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राज नारायण* **[1975] 3 एससीआर 333 : (1975) 4 एससीसी 428 - संदर्भित।**

अधिनियमों की सूची

विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981; अखिल भारतीय सेवाएं (अनुशासन एवं अपील) नियम, 1955; अखिल भारतीय सेवाएं (अनुशासन एवं अपील) नियम, 1969; दंड प्रक्रिया संहिता, 1898; दंड प्रक्रिया संहिता, 1973; भारत का संविधान; सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908; भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872।

कीवर्ड्स की सूची

विभागीय कार्यवाही; सेवा से बर्खास्तगी; अस्थायी ओवरड्राफ्ट की स्वीकृति में की गई अनियमितताएं एवं त्रुटियां; अनिवार्य सेवानिवृत्ति का दंड; प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन की प्रति न

दिया जाना; प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन; प्रबंधन का एकमात्र साक्षी; नियमित जांच; जांच अधिकारी द्वारा साक्ष्य में अपीलकर्ता के विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों पर सामान्यतः प्रश्न न करना; सेवानिवृत्ति; प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत; अनिवार्य कर्तव्य का पालन न करना; विनियम 6(7) का अनुपालन न करना; विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981; बचाव हेतु निष्पक्ष, युक्तिसंगत एवं पर्याप्त अवसर न प्रदान किया जाना; केंद्रीय सतर्कता आयोग (CVC) की सिफारिश; विशेषाधिकार का दावा कर सिफारिश को न देना; भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 123; जांच अधिकारी का विवेकाधिकार।

केस का उद्भव

सिविल अपीलीय अधिकारिता: सिविल अपील संख्या 6599/2025
कर्नाटक उच्च न्यायालय, बेंगलुरु द्वारा डब्ल्यू.ए. संख्या 975/2009 में दिनांक 14.12.2021 को पारित निर्णय एवं आदेश से उत्पन्न।

पक्षों के लिए उपस्थितियाँ

अपीलकर्ता की ओर से अधिवक्तागण:
आनंद संजय एम. नुली, वरिष्ठ अधिवक्ता, एम/एस नुली एंड नुली।

उत्तरदाता की ओर से अधिवक्तागण:
बसवा प्रभु पाटिल, वरिष्ठ अधिवक्ता; सुश्री प्रवीणा गौतम; पवन शुक्ला; सुश्री टिस्सी एनी थॉमस; रोहन बंसला; अरिजीत शुक्ला।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय/आदेश

आदेश

दीपांकर दत्ता*, न्यायमूर्ति

प्रस्तावना

1. एस. एल. कपूर बनाम जगमोहन1 इस न्यायालय का एक ऐतिहासिक निर्णय है, जो आधी शताब्दी से भी अधिक पूर्व दिया गया था और जिसमें प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों, विशेषतः

किसी व्यक्ति को दंडित किए जाने से पूर्व उसे सुनवाई का अधिकार, की सीमाओं एवं स्वरूप को स्पष्ट किया गया। नई दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी के विघटन को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि यह प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के विरुद्ध है, क्योंकि विघटन का आदेश पारित करने से पूर्व कोई कारण बताओ नोटिस (show cause notice) जारी नहीं किया गया था। इससे संबद्ध एक अन्य प्रश्न यह भी था कि यदि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का पालन परिणाम में कोई अंतर नहीं लाता, अर्थात जब तथ्यों में कोई विवाद न हो और वे स्वयं स्पष्ट हों, तब भी क्या इन सिद्धांतों का पालन आवश्यक है। माननीय न्यायमूर्ति ओ. चिनप्पा रेड्डी द्वारा, तीन-न्यायाधीशीय पीठ की ओर से व्यक्त किए गए उनके स्वर्णिम शब्द आज भी हमारे कानों में गूंजते हैं।

"24. … हमारे मत में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत किसी ऐसे अपवर्जन नियम (exclusionary rule) को स्वीकार नहीं करते, जो इस बात पर निर्भर हो कि यदि प्राकृतिक न्याय का पालन किया गया होता तो क्या उससे कोई अंतर पड़ता। प्राकृतिक न्याय का पालन न किया जाना स्वयं ही किसी भी व्यक्ति के लिए प्रतिकूलता (prejudice) है, और प्राकृतिक न्याय के उल्लंघन से पृथक रूप से प्रतिकूलता का प्रमाण देना आवश्यक नहीं है। जिस व्यक्ति ने न्याय से वंचित किया हो, उसके लिए यह कहना उचित नहीं है कि जिसे न्याय से वंचित किया गया, वह इससे प्रतिकूल रूप से प्रभावित नहीं हुआ। …"

2. उपर्युक्त उद्धरण **एस. एल. कपूर** बनाम जगमोहन (उपर्युक्त) से लिया गया, जिसे इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा **ओल्गा टेलिस बनाम बॉम्बे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन2** में ध्यान में रखा गया और उसे पूर्णतः अनुमोदित किया गया। माननीय मुख्य न्यायाधीश वाई. वी. चंद्रचूड़, जो पीठ की ओर से बोल रहे थे (जिसमें संयोगवश माननीय न्यायमूर्ति ओ. चिनप्पा रेड्डी भी सम्मिलित थे), ने यह प्रतिपादित किया कि उक्त टिप्पणियां सुनवाई के अधिकार के उद्देश्य एवं उसके प्रभावों के संबंध में विधि की वास्तविक स्थिति का सार प्रस्तुत करती हैं।

---

1. (1980) 4 एससीसी 379
2. (1985) 3 एससीसी 545

3. **ओल्गा टेलिस** बनाम बॉम्बे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन (उपर्युक्त) के तुरंत पश्चात, एक अन्य संविधान पीठ ने निष्पक्ष एवं निष्कलंक (fair and impartial) सुनवाई के विषय पर पूर्ववर्ती निर्णयों का अवलोकन करते हुए **यूनियन ऑफ इंडिया बनाम तुलसीराम पटेल**3 में निम्नलिखित रूप से प्रतिपादित किया:

"95. इस प्रकार, प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों को अब अनुच्छेद 14 में निहित गारंटी का एक अंग माना जाने लगा है, क्योंकि इस न्यायालय द्वारा समानता की अवधारणा–जो उस अनुच्छेद का विषय है–को एक नवीन एवं गतिशील व्याख्या दी गई है। संक्षेप में तर्क यह है: प्राकृतिक न्याय के किसी नियम का उल्लंघन मनमानी (arbitrariness) को जन्म देता है, जो भेदभाव (discrimination) के समान है; जहाँ भेदभाव राज्य की कार्रवाई का परिणाम हो, वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है; अतः राज्य की किसी कार्रवाई द्वारा प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत का उल्लंघन, अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है। हालाँकि, अनुच्छेद 14 प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का एकमात्र भंडार (repository) नहीं है। इसका कार्य यह सुनिश्चित करना है कि कोई भी विधि या राज्य की कार्रवाई जो इन सिद्धांतों का उल्लंघन करती है, निरस्त कर दी जाएगी। प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत केवल विधायन और राज्य की कार्रवाई तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि वे उन स्थितियों में भी लागू होते हैं जहाँ कोई न्यायाधिकरण, प्राधिकारी या व्यक्तियों का कोई निकाय–जो अनुच्छेद 12 के अंतर्गत 'राज्य' की परिभाषा में नहीं आता–किसी विषय का निर्णय करने का दायित्व रखता है। ऐसे मामलों में, प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत यह अपेक्षा करते हैं कि वह उस विषय का निर्णय निष्पक्ष एवं निष्कलंक (fairly and impartially) रूप से करे।"

4. एक अन्य महत्वपूर्ण निर्णय, अर्थात् **ए. आर. अंतुले बनाम आर. एस. नायक**4 में, सात-न्यायाधीशीय संविधान पीठ ने यह स्वीकार करते हुए कि उससे पूर्व एक त्रुटि हुई थी, जिसे सुधारना आवश्यक था, आगे यह प्रतिपादित किया कि:

---

3. (1985) 3 एससीसी 398

4. (1988) 2 एससीसी 602

"55. … मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी प्रतिकूलता (prejudice) को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन स्वयं ही आपत्तित कार्रवाई को शून्य कर देता है। इसी प्रकार, प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन भी उस कृत्य को शून्यता (nullity) में परिवर्तित कर देता है। …"

5. हाल ही में, इस न्यायालय ने ***स्टेट ऑफ उत्तर प्रदेश बनाम राम प्रकाश सिंह5*** में यह प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार अनुच्छेद 14, 19 और 21 नागरिकों के अधिकारों का एक त्रिमूर्ति (triumvirate) बनाते हैं–जो समानता, स्वतंत्रता और स्वतंत्रतापूर्वक जीवन के चार्टर के रूप में परिकल्पित हैं–उसी प्रकार **ओल्गा टेलिस** (उपर्युक्त), **तुलसीराम पटेल** (उपर्युक्त) तथा **ए. आर. अंतुले** (उपर्युक्त) जैसे संविधान पीठ के निर्णय प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की आधारशिला (bedrock) का निर्माण करते हैं, जिन्हें अनुच्छेद 14 का अंग माना गया है, और इस प्रकार अनुच्छेद 14 के उल्लंघन के आधार पर चुनौती दिए जाने पर प्रतिकूलता (prejudice) को पृथक रूप से सिद्ध करने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

6. इन निर्णयों का उल्लेख प्रारंभ में इसलिए किया गया है क्योंकि हम तीन-न्यायाधीशीय पीठ के निर्णय **सुनील कुमार बनर्जी बनाम स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल एवं अन्य**6 तथा समकक्ष पीठ के निर्णय **यूनियन ऑफ इंडिया बनाम आलोक कुमार**7 पर विचार करते हुए एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाने का प्रस्ताव कर रहे हैं। विशेष रूप से, इन निर्णयों पर कर्नाटक उच्च न्यायालय, बेंगलुरु8 की खंडपीठ द्वारा भी भरोसा किया गया था, जब उसने यह कहा कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन के दावे में प्रतिकूलता (prejudice) को सिद्ध करना आवश्यक है, भले ही उसके समक्ष नियोक्ता ने उस वैधानिक विनियम का उल्लंघन किया हो, जिससे वह बाध्य था।

---

5. 2025 एससीसी ऑनलाइन एससी 891

6. (1980) 3 एससीसी 304

7. (2010) 5 एससीसी 349

8. उच्च न्यायालय

अपील

7. अपीलकर्ता के. प्रभाकर हेगड़े द्वारा दायर इस सिविल अपील में चुनौती दिनांक 14 दिसंबर9 2021 के उस निर्णय एवं आदेश को दी गई है, जो रिट अपील संख्या 975 सन् 2009 (एस-डीई) में पारित हुआ था। उक्त आपत्तित आदेश के माध्यम से उच्च न्यायालय ने यहाँ के उत्तरदाता, बैंक ऑफ बड़ौदा द्वारा दायर रिट अपील को स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप, दिनांक 24 फरवरी 2009 को पारित एकल न्यायाधीश का निर्णय एवं आदेश, जो कि डब्ल्यूपी संख्या 27936 सन् 2003 में चुनौती के अधीन था, निरस्त हो गया और इसके फलस्वरूप अपीलकर्ता की रिट याचिका खारिज कर दी गई।

संक्षिप्त तथ्य

8. इस अपील के निर्णय हेतु प्रासंगिक तथ्य निम्नलिखित हैं:

(i) वर्ष 1959 में, अपीलकर्ता ने विजया बैंक (जो वर्ष 2019 में उत्तरदाता में विलय हो गया) में लिपिक (क्लर्क) के रूप में सेवा प्रारंभ की।

(ii) वर्ष 1959 से 1998 के बीच, अपीलकर्ता को कई बार पदोन्नति प्राप्त हुई। संबंधित समय पर वह विजया बैंक के दिल्ली क्षेत्रीय कार्यालय में 'जोनल हेड' के पद पर कार्यरत था।

(iii) दिनांक 4 जनवरी 1999 को, अपीलकर्ता को उसके अनुशासनिक प्राधिकारी द्वारा एक नोटिस प्रदान किया गया, जिसमें आरोप लगाया गया कि विभिन्न पक्षों के खातों में बड़ी राशि से संबंधित अस्थायी ओवरड्राफ्ट (TOD) स्वीकृत करने में कुछ अनियमितताएं एवं त्रुटियां हुईं, जिनके लिए वह उत्तरदायी है। यह भी आरोप लगाया गया कि अपीलकर्ता ने विजया बैंक की बराखंबा शाखा के सहायक महाप्रबंधक को दूरभाष के माध्यम से एम/एस कुनाल ट्रैवल्स प्राइवेट लिमिटेड को ₹15,00,000/- का TOD स्वीकृत करने का निर्देश दिया। इसी प्रकार के आरोपों से संबंधित एक अन्य नोटिस दिनांक 22 जनवरी 1999 को भी भेजा गया।

(iv) अपीलकर्ता ने उक्त नोटिसों का उत्तर दिनांक 1 फरवरी 1999 एवं 24 फरवरी 1999 के पत्रों द्वारा दिया।

(v) दिनांक 30 जनवरी 2001 को, विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 10के विनियम 6 के अंतर्गत आरोपपत्र जारी कर विभागीय कार्यवाही प्रारंभ की गई।

(vi) अपीलकर्ता ने दिनांक 17 फरवरी 2001 के पत्र द्वारा उक्त आरोपपत्र का उत्तर देते हुए सभी आरोपों से इनकार किया।

(vii) अपीलकर्ता के अनुशासनिक प्राधिकारी ने विजया बैंक के महाप्रबंधक पद पर कार्यरत एक अधिकारी को जांच अधिकारी नियुक्त किया।

(viii) दिनांक 28 नवंबर 2001 की जांच रिपोर्ट अनुशासनिक प्राधिकारी को प्रस्तुत की गई, जिसमें यह निष्कर्ष निकाला गया कि अपीलकर्ता के विरुद्ध आरोप सिद्ध हैं।

(ix) दिनांक 17 मई 2002 के आदेश द्वारा अनुशासनिक प्राधिकारी ने यह निर्धारित किया कि यद्यपि अपीलकर्ता 30 जून 2002 को सेवानिवृत्ति प्राप्त करने वाला था, तथापि उसके विरुद्ध दिनांक 30 जनवरी 2001 के आरोपपत्र के आधार पर प्रारंभ की गई विभागीय कार्यवाही जारी रहेगी। साथ ही यह भी आदेश दिया गया कि विभागीय कार्यवाही के अंतिम आदेश पारित होने तक अपीलकर्ता किसी भी सेवानिवृत्ति लाभ का हकदार नहीं होगा।

(x) अपीलकर्ता ने दिनांक 30 जनवरी 2006 को सेवा से सेवानिवृत्ति (superannuation) प्राप्त की।

(xi) दिनांक 4 जुलाई 2002 के आदेश द्वारा अनुशासनिक प्राधिकारी ने अपीलकर्ता पर 'सेवा से बर्खास्तगी' का दंड आरोपित किया।

---

9. आपत्तित आदेश

10. 1981 के विनियम

(xii) उक्त दंड से व्यथित होकर अपीलकर्ता ने अपीलीय प्राधिकारी के समक्ष अपील दायर की, जिसे दिनांक 27 मार्च 2003 के आदेश द्वारा निरस्त कर दिया गया।

(xiii) तत्पश्चात, अपीलकर्ता ने अपीलीय प्राधिकारी के इस आदेश को उच्च न्यायालय के समक्ष रिट अधिकारिता में चुनौती दी। उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने दिनांक 24 फरवरी 2009 के निर्णय एवं आदेश द्वारा रिट याचिका स्वीकार करते हुए बर्खास्तगी का आदेश निरस्त कर दिया तथा यह घोषित किया कि अपीलकर्ता "अपने सेवानिवृत्ति की आयु प्राप्त करने पर उन समस्त परिणामी लाभों का हकदार होगा, जिनका वह सामान्यतः तथा विधि के अनुसार अधिकारी होता।"

(xiv) उक्त निर्णय एवं आदेश से व्यथित होकर विजया बैंक ने खंडपीठ के समक्ष रिट अपील दायर की, जिसमें वह सफल रहा। परिणामस्वरूप, अपीलकर्ता की रिट याचिका निरस्त कर दी गई तथा अनुशासनिक प्राधिकारी द्वारा पारित बर्खास्तगी का आदेश पुनः स्थापित (confirm) कर दिया गया।

<u>आपत्तित आदेश</u>

9. उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने अपने विचारार्थ दो मुद्दे निर्धारित किए: (i) क्या प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध न कराए जाने से आरोपित अधिकारी (जो हमारे समक्ष अपीलकर्ता है) को प्रतिकूलता (prejudice) हुई और क्या इससे कार्यवाही अवैध (vitiate) हो गई; तथा (ii) क्या साक्ष्य में उसके विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों के संबंध में आरोपित अधिकारी से सामान्य प्रश्न करना, विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 के विनियम 6(17) के अंतर्गत एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

10. मुद्दा (i) का निर्णय करते हुए, उच्च न्यायालय ने इस न्यायालय के निर्णयों– ***विजय कुमार निगम बनाम स्टेट ऑफ एम.पी***11. तथा **सिंडिकेट बैंक एवं अन्य बनाम वेंकटेश गुरुराव कुराटी**12– पर भरोसा किया और यह अभिमत व्यक्त किया कि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन केवल यह निर्धारित करने हेतु होता है कि क्या दोषारोपित अधिकारी के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही प्रारंभ करना आवश्यक है या नहीं, और यह किसी आदेश पारित करने की आधारशिला नहीं बनता। उच्च न्यायालय ने आगे यह भी कहा कि चूँकि जांच अधिकारी द्वारा जिन सभी दस्तावेजों पर भरोसा किया गया, वे अपीलकर्ता को उपलब्ध करा दिए गए थे तथा अपीलकर्ता के प्रतिनिधि ने प्रबंधन के एकमात्र साक्षी का विस्तृत

प्रतिपरीक्षण (cross-examination) किया था, अतः प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध कराना आवश्यक नहीं था; परिणामस्वरूप, अपीलकर्ता को कोई प्रतिकूलता (prejudice) नहीं हुई।

11. मुद्दा (ii) के संबंध में, खंडपीठ ने निम्नलिखित अभिमत व्यक्त किया: प्रथम, विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 का विनियम 6(17), अखिल भारतीय सेवाएं (अनुशासन एवं अपील) नियम, 1955 के नियम 8(19) के समरूप (pari materia) है; अतः **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) में इस न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय, जिसका अनुसरण बाद में **आलोक कुमार** (उपर्युक्त) में किया गया, प्रत्यक्षतः लागू होता है, और इस प्रकार ऐसे विनियम का पालन केवल निर्देशात्मक (directory) है, न कि अनिवार्य (mandatory)। द्वितीय, उच्च न्यायालय ने तथ्यों के आधार पर यह पाया कि जांच अधिकारी ने अपीलकर्ता से पूछा था कि क्या वह कोई निवेदन करना चाहता है, और इसके अनुसरण में अपीलकर्ता ने विस्तृत प्रस्तुतियां दी थीं; अतः यद्यपि विनियम 6(17) के अनुसार उससे सामान्य प्रश्न नहीं किए गए, तथापि इस प्रावधान का पर्याप्त (substantial) अनुपालन किया गया था।

12. फलस्वरूप, उच्च न्यायालय ने रिट अपील को स्वीकार करते हुए एकल न्यायाधीश के आदेश को निरस्त कर दिया।

<u>पक्षकारों के तर्क</u>

13. अपीलकर्ता ने अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित आधारों पर आपत्तित आदेश को चुनौती दी है:

(a) उच्च न्यायालय ने **ईसीआईएल बनाम बी. करुणाकर**13 तथा **यूको बैंक बनाम राजिंदर लाल कपूर**14 में इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों पर विचार नहीं किया।

---

11. (1996) 11 एससीसी 599

12. (2006) 3 एससीसी 150

13. (1993) 4 एससीसी 727

(b) उच्च न्यायालय ने वेंकटेश गुरुराव कुराटी (उपर्युक्त) में प्रतिपादित विधि सिद्धांतों की त्रुटिपूर्ण व्याख्या की।

(c) उच्च न्यायालय ने इस तथ्य पर विचार नहीं किया कि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन की प्रति न दिए जाने से स्वयं ही अपीलकर्ता को प्रतिकूलता (prejudice) हुई, क्योंकि वह अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों के संबंध में प्रभावी ढंग से अपना बचाव प्रस्तुत नहीं कर सका।

(d) उच्च न्यायालय द्वारा **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) पर किया गया भरोसा त्रुटिपूर्ण था। उक्त निर्णय, जो तीन-न्यायाधीशीय पीठ द्वारा दिया गया था, में **के. सी. मैथ्यू बनाम स्टेट ऑफ त्रावणकोर-कोचीन**15 तथा **बिभूति भूषण दास गुप्ता बनाम स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल**16 जैसे समकक्ष पीठ के निर्णयों का उल्लेख किया गया, किन्तु इससे पूर्व चार-न्यायाधीशीय पीठ के निर्णय **तारा सिंह बनाम स्टेट**17 पर ध्यान नहीं दिया गया, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया था कि 1898 की संहिता की धारा 342 का विधिवत एवं निष्पक्ष पालन अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसका उद्देश्य अभियुक्त को उसके विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों को स्पष्ट करने का उचित एवं पर्याप्त अवसर प्रदान करना है। यद्यपि यह कहा गया था कि प्रत्येक त्रुटि या चूक से विचारण अवैध नहीं हो जाता और प्रत्येक मामले में यह प्रश्न त्रुटि की प्रकृति एवं इस बात पर निर्भर करेगा कि उससे प्रतिकूलता हुई है या होने की संभावना है, किन्तु वर्तमान मामले में त्रुटि की गंभीरता अपने चरम पर है, क्योंकि जांच अधिकारी ने साक्ष्य में अपीलकर्ता के विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों के संबंध में उससे एक भी प्रश्न नहीं किया। उच्च न्यायालय यह समझने में विफल रहा कि अपीलकर्ता को अपना पक्ष रखने के लिए कहना, किसी भी प्रकार से विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 के विनियम 6(17) के अनुपालन के समान नहीं माना जा सकता, बल्कि इसे पर्याप्त अनुपालन (substantial compliance) भी नहीं कहा जा सकता।

---

14. (2007) 6 एससीसी 694
15. एआईआर 1956 एससी 241
16. एआईआर 1969 एससी 381
17. (1951) एससीसी 903

(e) प्राधिकारियों द्वारा अपीलकर्ता को सेवानिवृत्ति के पश्चात "सेवा में माना गया" (deemed to be in service) मानना तथा 1981 के विनियमों में ऐसे किसी प्रावधान के अभाव में उसे सेवा से बर्खास्त करने का आदेश पारित करना पूर्णतः अवैध है।

(f) अपीलकर्ता द्वारा टीओडी (अस्थायी ओवरड्राफ्ट) के लिए मौखिक स्वीकृति देना सामान्य प्रचलन था और यह सद्भावना (good faith) में किया गया था।

14. उपर्युक्त तर्कों के आधार पर, अपीलकर्ता की ओर से वरिष्ठ अधिवक्ता श्री नुली, जिन्हें सुश्री अखिला वाली, अधिवक्ता द्वारा सक्षम सहायता प्रदान की गई, ने यह निवेदन किया कि संपूर्ण विभागीय कार्यवाही, जिसमें बर्खास्तगी का आदेश तथा अपीलीय आदेश भी सम्मिलित हैं, निरस्त किए जाएं और उत्तरदाता को निर्देशित किया जाए कि वह अपीलकर्ता को ऐसे समस्त लाभ प्रदान करे मानो उसे कभी सेवा से बर्खास्त ही नहीं किया गया हो।

15. इसके विपरीत, उत्तरदाता की ओर से उपस्थित वरिष्ठ अधिवक्ता श्री पाटिल ने रिट याचिका में चुनौती दी गई प्रशासनिक कार्रवाइयों तथा आपत्तित आदेश का बचाव करते हुए, अन्य बातों के साथ-साथ, निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किए:

(a) उच्च न्यायालय ने सही रूप से यह निर्णय दिया कि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन केवल यह आकलन करने हेतु था कि क्या विभागीय कार्यवाही प्रारंभ की जानी चाहिए या नहीं, और यह सेवा से बर्खास्तगी के आदेश का आधार नहीं बना; अतः उक्त प्रतिवेदन अपीलकर्ता को न दिए जाने से उसे कोई प्रतिकूलता (prejudice) नहीं हुई।

(b) प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन के लेखक ही जांच में प्रबंधन के एकमात्र साक्षी थे, और जो कुछ भी उन्होंने उस प्रतिवेदन में दर्ज किया था, वही उन्होंने जांच के दौरान अपने बयान में कहा; जिसके पश्चात अपीलकर्ता ने उनका विस्तृत प्रतिपरीक्षण किया। अतः प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन न दिए जाने से अपीलकर्ता को कोई वास्तविक शिकायत का आधार नहीं था।

(c) विनियम 6(17) (1981 विनियम) के संबंध में, अपीलकर्ता कोई प्रतिकूलता सिद्ध नहीं कर सका; साथ ही, जांच अधिकारी द्वारा अवसर दिए जाने पर अपीलकर्ता ने अपने पक्ष में विस्तृत प्रस्तुतियां दीं, अतः उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष सही था कि उक्त विनियम अनिवार्य नहीं है और उसका केवल पर्याप्त (substantial) अनुपालन ही अपेक्षित है।

(d) अपीलकर्ता ने न तो जांच के दौरान और न ही बाद में, जांच प्रतिवेदन के विरुद्ध अपनी अभ्यावेदन या अपील में यह आपत्ति उठाई कि विनियम 6(17) का अनुपालन न होने से उसे अपने बचाव में कोई हानि हुई। इस प्रकार की आपत्ति उसने पहली बार रिट याचिका में उठाई, जो कि केवल एक बाद की सोच (afterthought) है।

(e) **तारा सिंह** (उपर्युक्त) तथा **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) भिन्न विधिक क्षेत्रों में लागू होते हैं; अतः **तारा सिंह** (उपर्युक्त), जो आपराधिक अपीलीय अधिकारिता में दिया गया निर्णय है, वर्तमान कार्यवाही में लागू नहीं होता। इसके विपरीत, **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) प्रत्यक्षतः लागू होता है और न्यायोचित यह होगा कि उसका अनुसरण किया जाए।

(f) अपीलकर्ता के सेवानिवृत्ति प्राप्त करने के पश्चात भी विभागीय कार्यवाही की निरंतरता को दोषपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि अपीलकर्ता को अंतिम बर्खास्तगी आदेश पारित होने तक सेवा में बनाए रखा गया था; यह एक अनुमन्य कार्यवाही है, जिसमें हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है।

<u>मुद्दे:</u>

16.निर्णय हेतु निम्नलिखित तीन व्यापक मुद्दे उभरते हैं:

(i) क्या विजया बैंक द्वारा प्रारंभिक जांच करने हेतु नियुक्त अधिकारी, जो प्रबंधन का एकमात्र साक्षी भी था, द्वारा तैयार प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन की प्रति न दिए जाने से, अपीलकर्ता के विरुद्ध पश्चात संचालित नियमित जांच अवैध (vitiate) हो जाती है?

(ii) क्या विजया बैंक अधिकारी कर्मचारी (अनुशासन एवं अपील) विनियम, 1981 के विनियम 6(17) के अनुसार साक्ष्य में उसके विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों पर अपीलकर्ता से सामान्य प्रश्न न करने की जांच अधिकारी की विफलता/चूक से जांच अवैध हो जाती है?

(iii) क्या अपीलकर्ता के विरुद्ध सेवानिवृत्ति के पश्चात भी विभागीय कार्यवाही को जारी रखना, 1981 के विनियमों के अंतर्गत अनुमन्य था?

17.यदि उपर्युक्त में से किसी एक या सभी मुद्दों का उत्तर अपीलकर्ता के पक्ष में पाया जाता है, तो उसे दिए जाने योग्य राहत पर तत्पश्चात विचार किया जाएगा।

<u>विश्लेषण</u>

18. हम विचारणीय मुद्दा संख्या 1 से आरम्भ करते हैं। अंतिम जांच प्रतिवेदन उपलब्ध कराए जाने के संबंध में उपलब्ध व्यापक न्यायशास्त्र के विपरीत, हमारे शोध से यह प्रकट होता है कि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध कराए जाने के मुद्दे पर न्यायशास्त्र अपेक्षाकृत कम उपलब्ध है। तथापि, नीचे उद्धृत निर्णयजन्य विधि हमें हमारे समक्ष उपस्थित प्रश्न पर निर्णय करने हेतु पर्याप्त प्रकाश प्रदान करती है।

19. प्रारम्भ में, हम ***चंपकलाल चिमनलाल शाह बनाम भारत संघ18*** के संविधान पीठ के निर्णय का उल्लेख करते हैं। उक्त निर्णय, यद्यपि शासकीय कर्मचारियों के संदर्भ में, प्रारंभिक जांच के उद्देश्य को संक्षेप में स्पष्ट करता है। माननीय के. एन. वांचू, न्यायमूर्ति (जो उस समय मुख्य न्यायाधीश थे), ने पीठ की ओर से निम्नलिखित कहा: "13. सामान्यतः, एक प्रारंभिक जांच प्रायः यह निर्धारित करने के लिए की जाती है कि क्या एक औपचारिक विभागीय जांच के लिए प्रथमदृष्टया (prima facie) मामला बनता है, और यह अत्यंत आवश्यक है कि इन दोनों को परस्पर मिश्रित न किया जाए। यहाँ तक कि जब सरकार किसी अस्थायी कर्मचारी के विरुद्ध खराब कार्य या दुराचरण की रिपोर्ट के आधार पर दंडात्मक कार्रवाई करने का इरादा नहीं रखती, तब भी सामान्यतः एक प्रारंभिक जांच इस उद्देश्य से की जाती है कि सरकार यह संतुष्ट हो सके कि अस्थायी कर्मचारी की सेवाएं समाप्त करने या उसे उसके मूल पद पर वापस भेजने का पर्याप्त कारण है, क्योंकि जैसा कि हमने पूर्व में कहा है, सरकार सामान्यतः बिना किसी कारण के इस प्रकार की कार्रवाई नहीं करती। अतः, जब इस प्रकार की प्रारंभिक जांच किसी अस्थायी कर्मचारी या ऐसे शासकीय सेवक के मामले में की जाती है जो अस्थायी रूप से उच्च पद धारण कर रहा हो, तो इसे नियमित विभागीय जांच (जो सामान्यतः ऐसी प्रारंभिक जांच के पश्चात् होती है) के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जब सरकार आरोप तय करने और विभागीय जांच कराने का निर्णय लेती है ताकि शासकीय सेवक पर पूर्व में उल्लिखित तीन प्रमुख दंडों में से कोई एक लगाया जा सके। अतः, जहाँ तक प्रारंभिक जांच का संबंध है, यह अनुच्छेद 311(2) द्वारा शासित होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यह जांच वास्तव में सरकार की संतुष्टि के लिए होती है ताकि यह निर्णय लिया जा सके कि दंडात्मक कार्रवाई की जानी चाहिए या संविदा अथवा नियमों

के अंतर्गत कार्रवाई की जानी चाहिए, विशेषकर अस्थायी शासकीय सेवक या ऐसे सेवक के मामले में जो अस्थायी रूप से उच्च पद पर है और जिसे उस पद पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। संक्षेप में, प्रारंभिक जांच का उद्देश्य शासकीय सेवक के आचरण एवं कार्य के संबंध में तथ्यों का संकलन करना है, जिसमें उसे शामिल किया भी जा सकता है या नहीं भी, ताकि संबंधित प्राधिकारी यह निर्णय ले सके कि संबंधित सेवक को अनुच्छेद 311 के अंतर्गत आवश्यक जांच के अधीन किया जाए या नहीं, जिससे उसमें वर्णित तीन प्रमुख दंडों में से कोई एक आरोपित किया जा सके। ऐसी प्रारंभिक जांच एकतरफा (ex parte) भी की जा सकती है, क्योंकि यह मात्र सरकार की संतुष्टि के लिए होती है, यद्यपि सामान्यतः निष्पक्षता के हित में संबंधित सेवक से स्पष्टीकरण लिया जाता है। किन्तु उस चरण पर उसे सुने जाने का कोई अधिकार नहीं होता, क्योंकि यह जांच केवल सरकार की संतुष्टि के लिए होती है। केवल तब, जब सरकार तीन प्रमुख दंडों में से किसी एक को आरोपित करने के उद्देश्य से नियमित विभागीय जांच करने का निर्णय लेती है, तब शासकीय सेवक को अनुच्छेद 311 का संरक्षण तथा उससे संबंधित सभी अधिकार प्राप्त होते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लिखित है। अतः इन दोनों जांचों के बीच कोई भ्रम नहीं होना चाहिए, और केवल तब जब सरकार अनुच्छेद 311 में उल्लिखित तीन प्रमुख दंडों में से किसी एक को आरोपित करने के उद्देश्य से विभागीय जांच प्रारंभ करती है, तब शासकीय सेवक उस अनुच्छेद के संरक्षण का अधिकारी होता है। इसी कारण इस न्यायालय ने परशोत्तम लाल ढींगरा वाद [(1958) SCR 828] तथा श्याम लाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य [(1955) 1 SCR 26] में इस बात पर बल दिया कि 'नियोजन संविदा की शर्तों या विशिष्ट सेवा नियमों के अंतर्गत कार्रवाई करने के लिए सरकार को प्रेरित करने वाला कारण या प्रेरक तत्व अप्रासंगिक है।'

20. एक समन्वय पीठ ने ***कृष्ण चंद्र टंडन बनाम भारत संघ***19 में निर्विवाद रूप से यह अभिनिर्धारित किया कि जब जांच अधिकारी ने नियमित जांच के पश्चात् तैयार की गई जांच प्रतिवेदन में अपने निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन पर निर्भर नहीं किया हो, तब उस प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन को उपलब्ध कराना आवश्यक नहीं है। प्रासंगिक अंश निम्नलिखित है:

18. 1963 एससीसी ऑनलाइन एससी 42

19. (1974) 4 एससीसी 374

"16. …यह अत्यंत आवश्यक है कि कोई प्राधिकारी, जो जांच का आदेश देता है, इस बात से संतुष्ट हो कि अनुशासनात्मक जांच प्रारंभ करने के लिए प्रथमदृष्टया आधार विद्यमान हैं, और इसलिए, अंतिम निर्णय लेने से पूर्व वह स्वयं जांच कर सकता है या अपने अधीनस्थों को मामले की जांच करने का निर्देश दे सकता है। इन जांचों के परिणाम प्राप्त होने के पश्चात् ही वह यह निर्णय कर सकता है कि अनुशासनात्मक कार्रवाई अपेक्षित है या नहीं। अतः, इस प्रकार के दस्तावेज, जो जांच प्रारंभ होने से पूर्व अधिकारियों के मध्य अंतर्विभागीय संप्रेषण के रूप में होते हैं, वास्तव में तब तक कोई विशेष महत्व नहीं रखते जब तक कि जांच अधिकारी अपने निष्कर्षों के लिए उन पर निर्भर करना न चाहे। ऐसे स्थिति में यह उचित होगा कि उनकी प्रतियां दोषारोपित कर्मचारी को प्रदान की जाएं। वर्तमान मामले में यह स्थिति नहीं है कि जांच अधिकारी अथवा आयकर आयुक्त (CIT) ने अपीलकर्ता के विरुद्ध अपने निष्कर्षों के लिए श्री आर. एन. श्रीवास्तव या किसी अन्य अधिकारी की रिपोर्ट पर निर्भर किया हो। अतः, इस तर्क में कोई सार नहीं है।"

21. प्रारंभिक जांच की अवधारणा तथा उसके प्रभावों को ***चंद्रमा तिवारी बनाम भारत संघ20*** में सुव्यवस्थित रूप से संक्षेपित किया गया है। वहाँ, इस न्यायालय की एक समन्वय पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि:

"4. हमने अपीलकर्ता की ओर से प्रस्तुत तर्कों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है तथा अपीलकर्ता के अधिवक्ता द्वारा उद्धृत उपर्युक्त निर्णयों पर भी विचार किया है, किन्तु हमें अपीलकर्ता के तर्कों में ऐसा कोई बल नहीं मिलता जिससे उच्च न्यायालय के निर्णय में हस्तक्षेप किया जा सके। संविधान का अनुच्छेद 311 यह अपेक्षा करता है कि किसी शासकीय सेवक को सेवा से बर्खास्त करने जैसे प्रमुख दंड दिए जाने से पूर्व उसे अपनी रक्षा का युक्तियुक्त अवसर प्रदान किया जाए। यह भी अपेक्षित है कि अनुशासनात्मक जांच नियमों के अनुरूप, न्यायसंगत एवं निष्पक्ष तरीके से की जाए। जांच की प्रक्रिया प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप होनी चाहिए। प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के अनुसार, जिन दस्तावेजों पर आरोपित पक्ष के विरुद्ध निर्भर किया जाता है, उनकी प्रति उसे उपलब्ध कराई जानी चाहिए तथा उसे साक्षियों का प्रतिपरीक्षण (cross-examination) करने और अपने बचाव में साक्ष्य प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाना चाहिए। यदि किसी शासकीय सेवक के विरुद्ध ऐसे दस्तावेज पर निर्भर करते हुए

निष्कर्ष दर्ज किए जाते हैं, जिसकी प्रति उसे उपलब्ध नहीं कराई गई हो या जिसकी प्रति मांगने पर भी उसे नहीं दी गई हो, तो यह प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन होगा और ऐसी जांच तथा उसके परिणामस्वरूप पारित दंडादेश अवैध एवं शून्य हो जाएगा। ये सिद्धांत इस न्यायालय के अनेक निर्णयों द्वारा स्थापित हैं; अतः उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। हालांकि, यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दस्तावेज आरोपित शासकीय सेवक को उपलब्ध कराया जाए; केवल महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक दस्तावेज ही उसे दिए जाना आवश्यक है। यदि कोई दस्तावेज, भले ही आरोप पत्र में उल्लिखित हो, किन्तु आरोपों से संबंधित नहीं है या जांच अधिकारी अथवा दंडाधिकारी द्वारा आरोप सिद्ध करने हेतु उस पर निर्भर नहीं किया गया है, तो कार्यवाही या आदेश की वैधता पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। यदि कोई दस्तावेज आरोपित पक्ष के विरुद्ध उपयोग में नहीं लाया गया है, तो प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन का आधार सफलतापूर्वक नहीं उठाया जा सकता। प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन तभी उत्पन्न होता है जब कोई दस्तावेज, जिसकी प्रति मांगने पर भी आरोपित पक्ष को उपलब्ध नहीं कराई गई हो, उसके विरुद्ध दोष सिद्ध करने में उपयोग किया गया हो। अपीलकर्ता की ओर से उद्धृत निर्णयों पर सावधानीपूर्वक विचार करने पर हम पाते हैं कि दस्तावेजों की प्रतियां उपलब्ध कराने का दायित्व केवल महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक दस्तावेजों तक सीमित है, और जांच तभी दूषित मानी जाएगी जब ऐसे महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक दस्तावेजों की मांग के बावजूद प्रति उपलब्ध न कराए जाने से आरोपित अधिकारी को वास्तविक हानि (prejudice) हुई हो।"

****

"9. अब यह विधि द्वारा सुस्थापित है कि यदि प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण दस्तावेजों की प्रतियां, जिनमें प्रारंभिक जांच या अन्वेषण के दौरान दर्ज किए गए साक्षियों के बयान भी सम्मिलित हैं, जांच का सामना कर रहे दोषारोपित अधिकारी को उपलब्ध नहीं कराई जाती हैं, और यदि ऐसे दस्तावेजों पर अधिकारी के विरुद्ध लगाए गए आरोपों को सिद्ध करने के लिए निर्भर किया जाता है, तो प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन के कारण जांच दूषित हो जाएगी। इसी प्रकार, यदि किसी आपराधिक मामले के अन्वेषण के दौरान या प्रारंभिक जांच में दर्ज किए गए साक्षियों के बयान दोषारोपित अधिकारी को उपलब्ध नहीं कराए जाते हैं, तो यह प्रभावी प्रतिपरीक्षण (cross-examination) के

अवसर से वंचित करने के समान होगा। प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन या युक्तियुक्त प्रतिरक्षा के अवसर से वंचित किए जाने की स्थिति किन-किन तथ्यों एवं परिस्थितियों में उत्पन्न हो सकती है, इसका पूर्णतः पूर्वानुमान लगाना कठिन है। यह प्रश्न प्रत्येक मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दोषारोपित अधिकारी केवल उन्हीं दस्तावेजों की प्रतियां प्राप्त करने का अधिकारी है जो महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक हों, जिनमें अन्वेषण या प्रारंभिक जांच के दौरान दर्ज साक्षियों के बयानों की प्रतियां अथवा ऐसे अन्य दस्तावेज शामिल हो सकते हैं जिन पर आरोपों के समर्थन में निर्भर किया गया हो। यदि कोई दस्तावेज आरोपों से संबंधित नहीं है, या जांच अधिकारी द्वारा आरोपों के समर्थन में उस पर निर्भर नहीं किया गया है, अथवा जांच के दौरान साक्षियों के प्रतिपरीक्षण के लिए वह आवश्यक नहीं था, तो अधिकारी ऐसे दस्तावेजों की प्रतियां उपलब्ध कराने पर आग्रह नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी प्रतियों के अभाव से दोषारोपित अधिकारी को कोई वास्तविक हानि (prejudice) नहीं होगी। किसी दस्तावेज के महत्वपूर्ण होने या न होने का निर्णय प्रत्येक मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करेगा।"

22. इस न्यायालय की तीन-न्यायाधीशों की पीठ ने ***नारायण दत्तात्रेय रामतीर्थाखर बनाम महाराष्ट्र राज्य21*** में यह अवलोकन किया कि:

"3. ...इसके पश्चात् यह तर्क दिया गया कि प्रारंभिक जांच विधिवत् रूप से नहीं की गई थी और इसलिए प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन के कारण पूरी जांच दूषित हो गई है। प्रारंभिक जांच का आरोपपत्र जारी किए जाने के पश्चात् की जाने वाली जांच से कोई संबंध नहीं होता। पूर्ववर्ती कार्रवाई का उद्देश्य केवल यह पता लगाना होता है कि क्या दोषारोपित के विरुद्ध अनुशासनात्मक जांच प्रारंभ की जानी चाहिए। जब पूर्ण रूप से विधिवत् जांच संपन्न हो जाती है, तब प्रारंभिक जांच अपना महत्व खो देती है।"

23. उपर्युक्त निर्णयों तथा अन्य निर्णयों पर विचार करते हुए, एक समन्वय पीठ ने ***निर्मला जे. झाला बनाम गुजरात राज्य*** 22 में यह अभिनिर्धारित किया कि:

---

20. (1987) सप्लीमेंटरी एससीसी 518
21. (1997) 1 एससीसी 299
22. (2013) 4 एससीसी 301

"45. उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में, यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक जांच में अभिलिखित साक्ष्य का उपयोग नियमित जांच में नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोषारोपित उससे संबद्ध नहीं होता और ऐसे जांच में परीक्षित व्यक्तियों का प्रतिपरीक्षण (cross-examination) करने का अवसर भी उसे प्रदान नहीं किया जाता। ऐसे साक्ष्य का उपयोग प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन होगा।"

24. हम ***मनोज कुमार बनाम उत्तर प्रदेश राज्य23*** के निर्णय का भी सप्रासंगिक उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि:

"6. ...आदेश में यह भी उल्लिखित है कि यह निर्धारित करने के लिए कि क्या एक पूर्ण विभागीय जांच आवश्यक है, एक प्रारंभिक जांच की गई थी, जिसके पश्चात् आरोपपत्र (charge memo) सेवा किया गया तथा पूर्ण प्रतिरक्षा का अवसर प्रदान किया गया। अतः प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध न कराए जाने से अपीलकर्ता को किसी प्रकार की हानि (prejudice) नहीं हुई और न ही इससे विभागीय कार्यवाही दूषित हुई।"

25. उपर्युक्त निर्णयों का सार यह है कि:

i. प्रारंभिक जांच इस उद्देश्य से की जाती है कि यह निर्धारित किया जा सके कि क्या नियमित अनुशासनात्मक कार्यवाही आवश्यक है या नहीं;

ii. प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन एक आंतरिक दस्तावेज होता है;

iii. प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन अथवा उसमें निहित निष्कर्षों का उपयोग जांच प्रतिवेदन में निष्कर्ष निकालने हेतु नहीं किया जा सकता, यदि ऐसा प्रतिवेदन/निष्कर्ष ऐसे मौखिक और/या दस्तावेजी साक्ष्य पर आधारित हों जो आरोपित कर्मचारी की अनुपस्थिति में प्राप्त किए गए हों तथा ऐसे साक्ष्य को उसकी उपस्थिति में जांच में प्रस्तुत न किया

गया हो;

---

23. (2018) 13 एससीसी 161

iv. यदि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन या उसके निष्कर्षों पर निर्भर किया जाना हो, तो जिन साक्षियों के साक्ष्य पर वह आधारित है, उन्हें जांच अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए और आरोपित अधिकारी को उनका प्रतिपरीक्षण (cross-examination) करने का अवसर दिया जाना चाहिए;

v. यदि जांच प्रतिवेदन में प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन पर निर्भर किया जाना हो, तो ऐसा प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन दोषारोपित कर्मचारी को उपलब्ध कराया जाना अनिवार्य है;

vi. एक बार आरोपपत्र तैयार कर आरोपित अधिकारी को प्रदान कर दिया जाता है, जिसमें आरोपों का विवरण होता है, तब प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन का कोई महत्व नहीं रह जाता और उसे उपलब्ध कराना आवश्यक नहीं होता।

26. प्रारंभिक जांच के संचालन के उद्देश्य एवं कारणों को अभिलिखित करने के उपरांत, अब हम इस प्रश्न का उत्तर देने की ओर अग्रसर होते हैं कि क्या प्रतिवेदन को अपीलकर्ता को उपलब्ध न कराए जाने से अनुशासनात्मक कार्यवाही दूषित हो गई।
27. वर्तमान मामले में, जांच प्रतिवेदन के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि जांच अधिकारी द्वारा प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन पर कोई निर्भरता नहीं रखी गई है। अतः अपीलकर्ता को उक्त प्रतिवेदन उपलब्ध न कराए जाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
28. तथापि, एक रोचक तर्क यह प्रस्तुत किया गया है कि प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध न कराए जाने से अपीलकर्ता को हानि (prejudice) हुई, क्योंकि इससे वह साक्षी का प्रभावी प्रतिपरीक्षण (cross-examination) करने में असमर्थ हो गया। यह तर्क, यद्यपि नवीन है, किन्तु प्रभावी नहीं है। हम इस अनिवार्य निष्कर्ष पर इस कारण पहुँचते हैं कि अपीलकर्ता को नियमों के अनुसार साक्षी के बयान उपलब्ध कराए गए थे, उसे उन बयानों के आधार पर साक्षी का प्रतिपरीक्षण करने की अनुमति दी गई थी, तथा जांच अधिकारी ने प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन पर कोई निर्भरता नहीं रखी, बल्कि केवल ऐसे साक्षी के मुख्य परीक्षण (chief examination) एवं प्रतिपरीक्षण के दौरान अभिलिखित बयानों पर ही निर्भर किया।

29. अतः, हम पाते हैं कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है; साथ ही, प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध न कराए जाने से आरोपित अधिकारी को कोई हानि (prejudice) भी नहीं हुई है।

30. तथापि, यह निष्कर्ष इस शर्त पर आधारित है कि इस विशेष मामले में कोई भी नियम, वैधानिक अथवा अन्यथा, प्रारंभिक जांच प्रतिवेदन उपलब्ध कराना अनिवार्य नहीं करता।

31. अब हम अगले प्रश्न का उत्तर देने की ओर अग्रसर होते हैं, जो इस विवाद का केन्द्रीय मुद्दा है, अर्थात् 1981 विनियमों के विनियम 6(17) द्वारा जांच अधिकारी पर आरोपित कर्तव्य का स्वरूप क्या है? क्या यह प्रावधान निर्देशात्मक (directory) है या अनिवार्य (mandatory), अथवा प्रत्येक मामले के तथ्यात्मक परिदृश्य के अनुसार यह दोनों ही हो सकता है?

32. ***सुनील कुमार बनर्जी*** *(उपर्युक्त)* में, इस न्यायालय की तीन-न्यायाधीशों की पीठ को अखिल भारतीय सेवाएं (अनुशासन एवं अपील)24 नियम, 1969 के नियम 8(19) पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ, जो 1981 विनियमों के विनियम 6(17) के समान (pari materia) है। जब पीठ के समक्ष दोषारोपित अधिकारी द्वारा यह आपत्ति उठाई गई कि जांच अधिकारी द्वारा नियम 8(19) का उल्लंघन किया गया है, तब माननीय ओ. चिनप्पा रेड्डी, न्यायमूर्ति ने निम्नलिखित रूप में निर्णय दिया:

"3. … यह तुरंत ध्यान देने योग्य है कि यह प्रावधान *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 तथा *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973* की धारा 313 के समान है। अब यह विधि द्वारा सुस्थापित है कि धारा 342, 1898 संहिता के अंतर्गत केवल परीक्षण न किए जाने या दोषपूर्ण परीक्षण, हस्तक्षेप का आधार नहीं बनता जब तक कि वास्तविक हानि (prejudice) सिद्ध न की जाए; इस संबंध में *के. सी. मैथ्यू बनाम त्रावणकोर-कोचीन राज्य (AIR 1956 SC 241)* तथा *बिभूति भूषण दास गुप्ता बनाम पश्चिम बंगाल राज्य (AIR 1969 SC 381)* का उल्लेख किया जा सकता है। इसी प्रकार, हमारा भी यह मत है कि 1969 नियमों के नियम 8(19) की आवश्यकताओं का पालन न करने से जांच तब तक दूषित नहीं होती जब तक कि दोषारोपित अधिकारी वास्तविक हानि (prejudice) सिद्ध करने में सक्षम न हो। वर्तमान मामले में, उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश तथा खंडपीठ के न्यायाधीशों ने यह पाया कि नियम 8(19) की आवश्यकताओं का पालन न किए जाने से अपीलकर्ता को किसी प्रकार की हानि नहीं हुई। अपीलकर्ता ने स्वयं साक्षियों का प्रतिपरीक्षण किया, अपने बचाव में विस्तृत लिखित प्रस्तुतीकरण दिया तथा प्रत्येक स्तर पर स्वयं ही मामले की पैरवी की। अपीलकर्ता अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों से पूर्णतः अवगत था तथा उसने अपने लिखित बचाव में आरोपों के सभी पहलुओं का उत्तर दिया। अतः, हम यह नहीं मानते कि

जांच अधिकारी द्वारा नियम 8(19) के अनुसार उससे प्रश्न न किए जाने से उसे किसी प्रकार की हानि हुई।"

---

24. 1969 नियम

33. उपर्युक्त उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) में पीठ ने, दोषारोपित अधिकारी के तर्क को अस्वीकार करते हुए, यह अभिनिर्धारित किया कि– (i) 1969 नियमों का नियम 8(19), दण्ड प्रक्रिया संहिता25, 1898 की धारा 342 तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता26, 1973 की धारा 313 के समान (akin) है; तथा (ii) **के. सी. मैथ्यू** (उपर्युक्त) और **बिभूति भूषण दास गुप्ता** (उपर्युक्त) में प्रतिपादित विधि के अनुसार, धारा 342, 1898 संहिता के अंतर्गत केवल परीक्षण न किए जाने या दोषपूर्ण परीक्षण, हस्तक्षेप का आधार नहीं बनता जब तक कि वास्तविक हानि (prejudice) सिद्ध न की जाए। तथ्यों के आधार पर, पीठ का यह मत था कि यद्यपि जांच अधिकारी ने दोषारोपित अधिकारी का परीक्षण नहीं किया था, तथापि उससे उसे कोई हानि नहीं हुई, क्योंकि वह अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों से पूर्णतः अवगत था, उसने स्वयं साक्षियों का प्रतिपरीक्षण किया, अपने बचाव में अत्यंत विस्तृत लिखित प्रस्तुतीकरण दिया तथा प्रत्येक स्तर पर स्वयं ही मामले की पैरवी की।

34. *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 तथा *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973* की धारा 313, यद्यपि परस्पर अत्यंत समान प्रतीत होती हैं, तथापि पूर्णतः एक समान नहीं हैं। सुविधा की दृष्टि से, हम इन्हें निम्नलिखित रूप में उद्धृत करते हैं:

धारा 342

(1) अभियुक्त को उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट किसी भी परिस्थिति का स्पष्टीकरण देने में सक्षम बनाने के उद्देश्य से, न्यायालय किसी भी जांच या विचारण के किसी भी चरण पर, बिना पूर्व चेतावनी दिए, उससे ऐसे प्रश्न पूछ सकता है जिन्हें वह आवश्यक समझे; तथा उपर्युक्त उद्देश्य के लिए, अभियोजन के साक्षियों के परीक्षण के पश्चात् और अभियुक्त को अपने बचाव प्रस्तुत करने के लिए बुलाए जाने से पूर्व, उससे मामले

के संबंध में सामान्य रूप से प्रश्न करेगा।

---

25. 1898 कोड
26. 1973 कोड

(2) अभियुक्त ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने से इंकार करने या मिथ्या उत्तर देने के कारण स्वयं को दंड के लिए उत्तरदायी नहीं बनाएगा; किन्तु न्यायालय तथा जूरी (यदि कोई हो) ऐसे इंकार या उत्तरों से ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं जिन्हें वे उचित समझें।

(3) अभियुक्त द्वारा दिए गए उत्तरों को ऐसी जांच या विचारण में विचारार्थ लिया जा सकता है तथा उन्हें किसी अन्य जांच या विचारण में, किसी अन्य अपराध के संबंध में, जिसके किए जाने का संकेत ऐसे उत्तरों से मिलता हो, उसके पक्ष या विपक्ष में साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(4) उपधारा (1) के अंतर्गत अभियुक्त की परीक्षा करते समय उसे शपथ नहीं दिलाई जाएगी।

धारा 313 – अभियुक्त की परीक्षा करने की शक्ति

(1) प्रत्येक जांच या विचारण में, अभियुक्त को व्यक्तिगत रूप से उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट किसी भी परिस्थिति का स्पष्टीकरण देने में सक्षम बनाने के उद्देश्य से, न्यायालय–

(a) किसी भी चरण पर, बिना पूर्व चेतावनी दिए, अभियुक्त से ऐसे प्रश्न पूछ सकता है जिन्हें न्यायालय आवश्यक समझे;

(b) अभियोजन के साक्षियों के परीक्षण के पश्चात् तथा अभियुक्त को अपने बचाव प्रस्तुत करने के लिए बुलाए जाने से पूर्व, उससे मामले के संबंध में सामान्य रूप से प्रश्न करेगा:

परंतु समन वाद (summons-case) में, जहाँ न्यायालय ने अभियुक्त की व्यक्तिगत उपस्थिति से छूट प्रदान कर दी हो, वहाँ वह खंड (b) के अंतर्गत उसकी परीक्षा से भी छूट दे सकता है।

(2) उपधारा (1) के अंतर्गत अभियुक्त की परीक्षा करते समय उसे शपथ नहीं दिलाई जाएगी।

(3) अभियुक्त ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने से इंकार करने या मिथ्या उत्तर देने के कारण स्वयं को दंड के लिए उत्तरदायी नहीं बनाएगा।

(4) अभियुक्त द्वारा दिए गए उत्तरों को ऐसी जांच या विचारण में विचारार्थ लिया जा सकता है तथा उन्हें किसी अन्य जांच या विचारण में, किसी अन्य अपराध के संबंध में, जिसके किए जाने का संकेत ऐसे उत्तरों से मिलता हो, उसके पक्ष या विपक्ष में साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(5) न्यायालय, अभियुक्त से पूछे जाने वाले प्रासंगिक प्रश्नों की तैयारी में अभियोजन पक्ष तथा बचाव पक्ष के अधिवक्ताओं की सहायता ले सकता है, और न्यायालय अभियुक्त द्वारा लिखित बयान प्रस्तुत किए जाने को इस धारा के पर्याप्त अनुपालन के रूप में स्वीकार कर सकता है।

35. ***के. सी. मैथ्यू*** *(उपर्युक्त)* में, तीन-न्यायाधीशों की पीठ ने *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 के उल्लंघन के प्रभाव पर विचार करते हुए निम्नलिखित कहा:

7. अगला तर्क यह था कि *दण्ड प्रक्रिया संहिता* की धारा 342 के अंतर्गत प्रत्येक अभियुक्त की परीक्षा दोषपूर्ण थी और इससे हानि (prejudice) हुई। हम सहमत हैं कि परीक्षा उतनी विस्तृत या स्पष्ट नहीं थी जितनी होनी चाहिए थी, किन्तु हम इस बात से संतुष्ट नहीं हैं कि कोई वास्तविक हानि हुई है।

8. यह ध्यान देने योग्य है कि हानि (prejudice) का प्रश्न न तो अधीनस्थ न्यायालयों में उठाया गया था और न ही इस न्यायालय में अपील के आधारों में उठाया गया था। यह मुद्दा हमारे समक्ष तर्कों के दौरान पहली बार उठाया गया और वहाँ भी अधिवक्ता यह नहीं बता सके कि उनके मुवक्किलों को वास्तव में कोई हानि हुई थी; वे केवल यह कह सके कि हानि की संभावना हो सकती थी।

9. हम सहमत हैं कि अपील के आधारों में आपत्ति न उठाया जाना अनिवार्य रूप से घातक नहीं है; सब कुछ मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है; किन्तु यह तथ्य कि आपत्ति पहले के चरण में, जबकि उसे उठाया जा सकता था और उठाया जाना चाहिए था, नहीं उठाई गई, एक महत्वपूर्ण परिस्थिति है जो अभियुक्त के विरुद्ध विशेष रूप से

प्रभावी होगी, खासकर तब जब वह पूरे समय अधिवक्ता द्वारा प्रतिनिधित्वित रहा हो। *दण्ड प्रक्रिया संहिता* की धारा 537 का स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से न्यायालय को यह निर्देश देता है कि वह 'इस बात पर विचार करे कि क्या आपत्ति कार्यवाही के पूर्व चरण में उठाई जा सकती थी और उठाई जानी चाहिए थी।

10. एक अन्य महत्वपूर्ण परिस्थिति यह है कि अपील याचिका में उन प्रश्नों का उल्लेख नहीं किया गया है जो, अपीलकर्ताओं के अनुसार, उनसे पूछे जाने चाहिए थे, और न ही यह दर्शाया गया है कि यदि वे प्रश्न पूछे जाते तो वे क्या उत्तर देते। यद्यपि यह अनिवार्य रूप से घातक नहीं है, तथापि सामान्यतः हानि (prejudice) का तर्क तब तक स्थापित करना अत्यंत कठिन होगा जब तक न्यायालय को यह न बताया जाए कि वास्तविक कठिनाई कहाँ उत्पन्न हुई। यह सत्य है कि कुछ अपवादात्मक मामलों में, हानि या हानि की युक्तियुक्त संभावना तथ्यात्मक परिस्थितियों से इतनी स्पष्ट हो सकती है कि अतिरिक्त विवरण की आवश्यकता न हो; किन्तु ऐसे मामले अपवाद स्वरूप ही होते हैं। अंततः, वास्तव में हानि हुई या नहीं, यह बताने की स्थिति में केवल अभियुक्त ही होता है; और यदि वास्तविक हानि हुई है, तो वह तत्क्षण तथ्य प्रस्तुत कर सकता है, जिससे न्यायालय उनका मूल्यांकन कर सके। किन्तु यदि अभियुक्त का दृष्टिकोण, चाहे वह स्वयं या अपने अधिवक्ता के माध्यम से हो, यह हो कि–'मुझे नहीं पता कि मैं क्या कहता; मुझे अभी इस पर विचार करना है; परंतु मैं यह या वह कह सकता था'–तो सामान्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि न तो कोई हानि हुई है और न ही हो सकती थी। यहाँ भी, अन्य मामलों की भाँति, न्यायालय यह निष्कर्ष निकालने का अधिकारी है कि जो व्यक्ति अपने विशेष ज्ञान के अंतर्गत आने वाले तथ्यों को जानबूझकर छिपाता है और न्यायालय को वह सहायता देने से इंकार करता है जो उसका अधिकार और अपेक्षा है, उसके पास ऐसा कुछ महत्वपूर्ण नहीं है जिसे वह प्रकट कर सके; और यदि वह कुछ प्रकट भी करता, तो उससे उसके पक्ष की निरर्थकता तुरंत उजागर हो जाती।

36. ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** *(उपर्युक्त)* भी तीन-न्यायाधीशों की पीठ का निर्णय है। विचारार्थ उत्पन्न प्रश्न को अनुच्छेद 4 में संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है:

"4. ... विचाराधीन प्रश्न यह है कि क्या अधिवक्ता, धारा 342 के प्रयोजनों के लिए अभियुक्त का प्रतिनिधित्व कर सकता है, तथा क्या उस स्थिति में, जब मजिस्ट्रेट ने अभियुक्त की व्यक्तिगत उपस्थिति से छूट प्रदान कर दी हो और उसे अधिवक्ता के

माध्यम से उपस्थित होने की अनुमति दी हो, अभियुक्त के स्थान पर अधिवक्ता की परीक्षा इस धारा का पर्याप्त अनुपालन मानी जाएगी। इस प्रश्न पर न्यायिक मतों में तीव्र मतभेद है। वर्ष 1962 तक के अधिकांश निर्णयों का उल्लेख *प्रोवा देबी बनाम श्रीमती फर्नांडीस (AIR 1962 Cal 203)* में किया गया है। उस मामले में, कलकत्ता उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि मजिस्ट्रेट अपने विवेकाधिकार से धारा 342 के अंतर्गत अभियुक्त की ओर से अधिवक्ता की परीक्षा कर सकता है। इस दृष्टिकोण का समर्थन अन्य उच्च न्यायालयों के अनेक निर्णयों द्वारा किया गया है, किन्तु समय-समय पर कई न्यायाधीशों ने प्रबल असहमति व्यक्त करते हुए विपरीत निष्कर्ष पर भी पहुँच बनाए। इस प्रश्न के दोनों पक्षों पर कलकत्ता प्रकरण के बहुमत तथा अल्पमत के निर्णयों में सक्षम रूप से विचार किया गया है। इस विषय पर सभी निर्णयों का विस्तृत परीक्षण करने के पश्चात्, हम अल्पमत के मत से सहमत होने की ओर प्रवृत्त हैं।"

37. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 342 पर विचार किया गया और उसे निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया गया:

"5. धारा 342 की उपधारा (1) दो भागों में विभाजित है। पहला भाग न्यायालय को यह विवेकाधिकार देता है कि वह किसी भी जांच या विचारण के किसी भी चरण पर, बिना पूर्व चेतावनी दिए, अभियुक्त से प्रश्न कर सकता है। दूसरे भाग के अंतर्गत न्यायालय के लिए यह आवश्यक किया गया है कि वह अभियोजन के साक्षियों के परीक्षण के पश्चात् और अभियुक्त को उसके बचाव के लिए बुलाए जाने से पूर्व, उससे मामले के संबंध में सामान्य रूप से प्रश्न करे। दूसरा भाग अनिवार्य है और न्यायालय पर यह दायित्व आरोपित करता है कि वह अभियोजन पक्ष के मामले के समापन पर अभियुक्त की परीक्षा करे, ताकि उसे साक्ष्य में उसके विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने तथा अपने बचाव में जो कुछ वह कहना चाहता है, उसे अपने शब्दों में कहने का अवसर मिल सके। अभियुक्त प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं है, किन्तु यदि वह उत्तर देने से इंकार करता है या मिथ्या उत्तर देता है, तो उसके परिणाम गंभीर हो सकते हैं, क्योंकि उपधारा (2) के अंतर्गत न्यायालय ऐसे इंकार या मिथ्या उत्तर से ऐसे निष्कर्ष निकाल सकता है जिन्हें वह उचित समझे। उपधारा (3) के अंतर्गत अभियुक्त द्वारा दिए गए उत्तरों को जांच या विचारण में विचारार्थ लिया जा सकता है। उसका कथन एक महत्वपूर्ण सामग्री है जिस पर न्यायालय कार्य कर सकता है और जो उसकी निर्दोषता को सिद्ध कर सकता है (देखें, महाराष्ट्र राज्य बनाम लक्ष्मण जयराम (1962 Supp 3

SCR 230))। उपधारा (4) के अंतर्गत उसे शपथ नहीं दिलाई जाती। इसका कारण यह है कि जब उसकी परीक्षा धारा 342 के अंतर्गत की जाती है, तब वह साक्षी नहीं होता। …"

38. उद्धृत वृहत्तर पीठों के निर्णयों के अंशों का सूक्ष्म परीक्षण करने पर हमें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ बिंदुओं को विशेष रूप से रेखांकित किया जाए। के. ***सी. मैथ्यू*** (उपर्युक्त) में, दोषपूर्ण परीक्षा का तर्क इस न्यायालय के समक्ष पहली बार बहस के दौरान उठाया गया था, न कि किसी पूर्ववर्ती चरण में, जबकि ऐसा तर्क उठाने का पूरा अवसर उपलब्ध था क्योंकि अभियुक्त अधिवक्ता द्वारा प्रतिनिधित्वित थे। पीठ ने, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 537 के प्रावधान का स्पष्ट उल्लेख करते हुए, जो दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 465(1) के समान था, इस तथ्य को कि अभियुक्त अपने दोषसिद्धि एवं दंडादेश की प्रक्रिया में हुई किसी वास्तविक हानि (prejudice) को प्रदर्शित करने में असमर्थ रहा, राहत प्रदान न करने के एक आधार के रूप में माना। स्पष्टतः, धारा 537, 1898 संहिता के परिप्रेक्ष्य में, किसी त्रुटि या अनियमितता के कारण न्याय की विफलता (failure of justice) का होना आवश्यक था ताकि हस्तक्षेप किया जा सके, जो कि ***के. सी. मैथ्यू*** (उपर्युक्त) में नहीं पाया गया। इसी प्रकार, ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** (उपर्युक्त) में भी इस न्यायालय ने यह अवलोकन किया कि धारा 342 के अंतर्गत केवल परीक्षण न किया जाना या दोषपूर्ण परीक्षण, तब तक हस्तक्षेप का आधार नहीं बनता जब तक कि वास्तविक हानि सिद्ध न की जाए। अतः उस मामले में भी, चूंकि ऐसी हानि का तर्क पूर्ववर्ती कार्यवाहियों में नहीं उठाया गया था और धारा 342 के अंतर्गत परीक्षण न किए जाने से कोई हानि नहीं हुई थी, इसलिए उस मामले के तथ्यों को देखते हुए दोषसिद्धि एवं दंडादेश में कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया। वर्तमान मामले के लिए जो महत्वपूर्ण है और विशेष रूप से उभरकर सामने आता है, वह यह है कि 1898 संहिता की धारा 342 के द्वितीय भाग (second limb) को तीन-न्यायाधीशों की पीठ द्वारा अनिवार्य (mandatory) के रूप में व्याख्यायित किया गया।

39. ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** *(उपर्युक्त)* में *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 की यह व्याख्या, पूर्ववर्ती चार-न्यायाधीशों की वृहत्तर पीठ के निर्णय ***तारा सिंह*** *(उपर्युक्त)* के अनुरूप भी प्रतीत होती है, जिसमें माननीय विवियन बोस, न्यायमूर्ति (जैसा कि उस समय थे), ने पीठ की ओर से धारा 342 के अंतर्गत अभियुक्त की परीक्षा की आवश्यकताओं का विस्तार से स्पष्टीकरण किया था। प्रासंगिक अंश निम्नलिखित है:

"18. अतः यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि अभियुक्त की धारा 342 के अंतर्गत विधिवत् परीक्षा की जाए और, जैसा कि प्रिवी काउंसिल ने *द्वारकानाथ वर्मा बनाम सम्राट (AIR*

1933 PC 124) में संकेत किया है, यदि साक्ष्य में कोई बिंदु अभियुक्त के विरुद्ध महत्वपूर्ण माना जाता है और दोषसिद्धि उसी पर आधारित करने का अभिप्राय है, तो यह उचित एवं आवश्यक है कि उस विषय में अभियुक्त से प्रश्न किया जाए और उसे उसका स्पष्टीकरण देने का अवसर प्रदान किया जाए, यदि वह ऐसा करना चाहे। यह एक महत्वपूर्ण एवं हितकारी प्रावधान है और मैं इसे उपेक्षित नहीं होने दे सकता। मुझे खेद है कि अनेक मामलों में, विशेषतः सत्र न्यायालयों में, इस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। किन्तु चाहे मामला सत्र न्यायालय में हो या विचारण हेतु प्रेषित करने वाले मजिस्ट्रेट के समक्ष, यह आवश्यक है कि धारा 342 के प्रावधानों का निष्पक्ष एवं निष्ठापूर्वक पालन किया जाए।

23. धारा 342 का उद्देश्य अभियुक्त को इस हेतु परीक्षा करना है कि वह "उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट परिस्थितियों का स्पष्टीकरण दे सके।" अब यह स्पष्ट है कि जब सत्र न्यायालय इस धारा के अंतर्गत परीक्षा करता है, तो यहाँ संदर्भित साक्ष्य वही है जो सत्र न्यायालय में प्रस्तुत हुआ है तथा वे परिस्थितियाँ जो उसी न्यायालय में अभियुक्त के विरुद्ध प्रकट होती हैं। अतः केवल यह पर्याप्त नहीं है कि विचारण हेतु प्रेषित करने वाले मजिस्ट्रेट के समक्ष पूछे गए प्रश्नों और दिए गए उत्तरों को पढ़कर सुनाया जाए और अभियुक्त से पूछा जाए कि क्या वह उनके संबंध में कुछ कहना चाहता है। वर्तमान मामले में तो ऐसा भी नहीं किया गया। अपीलकर्ता से उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने के लिए नहीं कहा गया, बल्कि उससे यह पूछा गया कि क्या मजिस्ट्रेट के समक्ष दिए गए उसके कथन और उत्तर सही रूप से अभिलिखित किए गए थे। यह धारा की आवश्यकताओं का अनुपालन नहीं है।

24. धारा 342 का समग्र उद्देश्य अभियुक्त को उसके विरुद्ध प्रकट परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने का एक निष्पक्ष एवं उचित अवसर प्रदान करना है। अतः प्रश्न निष्पक्ष होने चाहिए और इस प्रकार से पूछे जाने चाहिए कि एक अशिक्षित या अल्पशिक्षित व्यक्ति भी उन्हें समझ सके। यहाँ तक कि जब अभियुक्त अशिक्षित न भी हो, तब भी हत्या जैसे आरोप का सामना करते समय उसका मन विचलित हो सकता है। ऐसी स्थिति में वह जटिल प्रश्नों का महत्व समझने की स्थिति में नहीं होता। अतः निष्पक्षता की मांग है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण परिस्थिति को सरल एवं पृथक रूप से इस प्रकार रखा जाए कि अशिक्षित, विचलित या भ्रमित मन भी उसे सहजता से समझ सके। मैं यह नहीं कहता कि इस संबंध में प्रत्येक त्रुटि या चूक अनिवार्य रूप से विचारण को दूषित कर देगी, क्योंकि मेरे मत में इस प्रकार की त्रुटियाँ सुधारयोग्य अनियमितताओं (curable

irregularities) की श्रेणी में आती हैं। अतः प्रत्येक मामले में प्रश्न त्रुटि की मात्रा तथा इस बात पर निर्भर करेगा कि क्या उससे वास्तविक हानि (prejudice) हुई है या होने की संभावना है।

25. मेरे मत में, इस मामले में *दण्ड प्रक्रिया संहिता* की धारा 342 के प्रावधानों की अवहेलना इतनी गंभीर है कि मुझे वास्तविक हानि की प्रबल संभावना प्रतीत होती है। किन्तु यह एकमात्र त्रुटि नहीं है। …"

40. ***राम शंकर सिंह बनाम पश्चिम बंगाल राज्य***27 के निर्णय का भी सप्रासंगिक उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें इस न्यायालय की एक अन्य तीन-न्यायाधीशों की पीठ ने *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 के क्षेत्राधिकार का परीक्षण इस संदर्भ में किया कि सत्र न्यायाधीश ने साक्ष्य के अनेक पृथक विषयों को एक ही प्रश्न में समेट दिया था। यह इस प्रकार अभिनिर्धारित किया गया:

"15. हमारे मत में, माननीय सत्र न्यायाधीश ने साक्ष्य के अनेक पृथक विषयों को एक ही प्रश्न में समेटकर अनियमित रूप से कार्य किया। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 342 की उपधारा (1), जहाँ तक प्रासंगिक है, यह प्रावधान करती है: "अभियुक्त को उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट किसी भी परिस्थिति का स्पष्टीकरण देने में सक्षम बनाने के उद्देश्य से, न्यायालय … अभियोजन के साक्षियों के परीक्षण के पश्चात् और अभियुक्त को उसके बचाव के लिए बुलाए जाने से पूर्व, उससे मामले के संबंध में सामान्य रूप से प्रश्न करेगा।" इस प्रकार न्यायालय पर यह दायित्व आरोपित किया गया है कि वह अभियोजन साक्षियों के परीक्षण के पश्चात् अभियुक्त से सामान्य रूप से प्रश्न करे, ताकि वह उसके विरुद्ध प्रकट किसी भी परिस्थिति का स्पष्टीकरण दे सके। यह उस निर्दोषता के अनुमान (presumption of innocence) का आवश्यक परिणाम है, जिस पर हमारा आपराधिक न्यायशास्त्र आधारित है। इस धारा का उद्देश्य अभियुक्त को यह अवसर प्रदान करना है कि वह अभियोजन द्वारा जिस परिस्थिति पर निर्भर किया जा रहा है, जो प्रथमदृष्टया उसके विरुद्ध प्रतीत होती है, यह प्रदर्शित कर सके कि वह सत्य नहीं है या उसकी निर्दोषता के अनुकूल है। यह अवसर वास्तविक एवं पर्याप्त होना चाहिए। प्रश्न इस प्रकार तैयार किए जाने चाहिए कि अभियुक्त को उन परिस्थितियों का स्पष्ट बोध हो सके जिन पर अभियोजन निर्भर कर रहा है, तथा उसे उन परिस्थितियों के संबंध में अपनी ओर से स्पष्टीकरण देने का अवसर प्राप्त हो। प्रत्येक प्रश्न इस प्रकार से तैयार किया जाना चाहिए कि अभियुक्त उसे समझ सके और यह भी समझ सके कि अभियोजन उसके विरुद्ध साक्ष्य का किस प्रकार उपयोग करना चाहता है। धारा 342 के

अंतर्गत अभियुक्त की परीक्षा केवल औपचारिकता नहीं है; इसे न्याय और अभियुक्त के प्रति निष्पक्षता के हित में विधिवत् संपन्न किया जाना चाहिए। अपूर्ण साक्ष्य-समझ, शिथिलता या लापरवाही के परिणामस्वरूप की गई त्रुटिपूर्ण परीक्षा द्वारा अभियुक्त की स्थिति को उस सीमा से अधिक कठिन नहीं बनाया जा सकता, जितनी वह किसी आपराधिक विचारण में स्वाभाविक रूप से होती है।"

41. इस चरण पर, इस न्यायालय की एक अन्य तीन-न्यायाधीशों की पीठ के निर्णय ***शरद बिर्धिचंद सरडा बनाम महाराष्ट्र राज्य***28 का उल्लेख करना उपयुक्त होगा, जिसमें दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 313 पर विचार किया गया था। वहाँ माननीय एस. मुर्तज़ा फज़ल अली, न्यायमूर्ति (जैसा कि उस समय थे) ने यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त के प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति को धारा 313 के अंतर्गत उसके समक्ष प्रस्तुत करना अत्यावश्यक है; अन्यथा उसे विचार से पूर्णतः बाहर कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि अभियुक्त को उसका स्पष्टीकरण देने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसी प्रकार का मत माननीय ए. वरदराजन, न्यायमूर्ति (जैसा कि उस समय थे) ने अपने सहमति (concurring) मत में व्यक्त किया, कि वे परिस्थितियाँ जिन्हें अपीलकर्ता के समक्ष धारा 313, 1973 संहिता के अंतर्गत उसकी परीक्षा में नहीं रखा गया, उन्हें विचार से पूर्णतः बाहर किया जाना चाहिए।

42. हाल ही में, इस न्यायालय की एक अन्य तीन-न्यायाधीशों की पीठ ने ***महेश्वर टिग्गा बनाम झारखंड राज्य***29 में यह अभिनिर्धारित करने का अवसर प्राप्त किया कि:

"8. यह भली-भांति स्थापित है कि वे परिस्थितियाँ जो *दण्ड प्रक्रिया संहिता* की धारा 313 के अंतर्गत अभियुक्त के समक्ष प्रस्तुत नहीं की गई हैं, उसके विरुद्ध उपयोग में नहीं लाई जा सकतीं और उन्हें विचार से बाहर किया जाना चाहिए। आपराधिक विचारण में, अभियुक्त से पूछे जाने वाले प्रश्नों का महत्व प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के लिए मूलभूत है, क्योंकि यह उसे न केवल अपना बचाव प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करता है, बल्कि उसके विरुद्ध आरोपित परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने का भी अवसर देता है। अभियुक्त द्वारा प्रस्तुत एक संभाव्य (probable) बचाव, आरोप को खंडित करने के लिए पर्याप्त होता है, बिना इस आवश्यकता के कि उसे संदेह से परे सिद्ध किया जाए।"

43. श्री पाटिल का यह कहना सही है कि ***सुनील कुमार बनर्जी*** *(उपर्युक्त)* एक ऐसा दृष्टांत (precedent) है जो विचाराधीन प्रश्न के निर्णय के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान करता है, क्योंकि उसमें विभागीय जांच के दौरान लागू होने वाले समान (pari materia)

प्रावधान पर विचार किया गया था। स्पष्टतः, उनका संकेत यह था कि हम ऐसे दृष्टांत से बाध्य हैं और भिन्न दृष्टिकोण अपनाने की कोई गुंजाइश नहीं है।

---

27. एआईआर 1962 एससी 1239
28. (1984) 4 एससीसी 116
29. (2020) 10 एससीसी 108

44. सामान्य परिस्थितियों में, वृहत्तर पीठ के दृष्टांत से बाध्य होने के कारण ऐसे तर्क को अस्वीकार करने का कोई विशेष कारण नहीं होता। तथापि, **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) के निर्णय (लगभग साढ़े चार दशक पूर्व) के पश्चात् हमारे देश में प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में विधि का जो व्यापक एवं विस्तृत विकास हुआ है, विशेषतः प्रशासनिक कार्यवाही में निष्पक्षता (fairness) के सिद्धांत के संबंध में–जिसे अब भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्राकृतिक न्याय का तृतीय अंग (third limb) माना जाता है–उसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही एस. एल. कपूर (उपर्युक्त) का निर्णय, जिसे स्वयं माननीय ओ. चिनप्पा रेड्डी, न्यायमूर्ति द्वारा लिखा गया, तथा तत्पश्चात् संविधान पीठ के तीन निर्णय–**ओल्गा टेलिस** (उपर्युक्त), **तुलसीराम पटेल** (उपर्युक्त) और **ए. आर. अंतुले** (उपर्युक्त)–यह स्थापित करते हैं कि निष्पक्ष सुनवाई से संबंधित किसी अनिवार्य वैधानिक प्रावधान का उल्लंघन स्वयं में ही संबंधित व्यक्ति के प्रति हानि (prejudice) है और ऐसी हानि को पृथक रूप से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि माननीय न्यायमूर्ति ने यह टिप्पणी की कि–"<u>जिस व्यक्ति ने न्याय से वंचित किया है, उसके लिए यह कहना शोभा नहीं देता कि जिसे न्याय से वंचित किया गया, वह हानि से ग्रस्त नहीं हुआ।</u>" (हमारा बल) वास्तव में, यह एक विरोधाभासी स्थिति है कि जो व्यक्ति किसी अन्य को न्याय से वंचित करता है, वही यह दावा करे कि जिस व्यक्ति को न्याय से वंचित किया गया, उसे कोई हानि नहीं हुई।

45. ***सुनील कुमार बनर्जी*** *(उपर्युक्त)* का निर्णय देने वाली तीन-न्यायाधीशों की पीठ के प्रति हमारी पूर्ण श्रद्धा एवं सम्मान के साथ, विधिक स्थिति के हमारे विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उक्त निर्णय का दृष्टांत मूल्य (precedential value) एकाधिक कारणों से काफी हद तक कम हो गया है, और उस निर्णय को उन्हीं कारणों के आधार पर सीमित रूप से एक प्राधिकरण (authority) माना जाना चाहिए जिनके आधार पर वह दिया गया था।

46. प्रथम, 1969 नियमों के नियम 8(19) का स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया गया था, विशेषतः उन प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों के संदर्भ में जिनका दावा और प्रवर्तन दोषारोपित अधिकारी ऐसे प्रासंगिक नियमों के अधीन कर सकते हैं। परिणामस्वरूप, और विशेष रूप से महत्वपूर्ण यह है कि उसी प्रावधान में प्रयुक्त "may" तथा "shall" शब्दों के प्रभाव पर विचार किया गया प्रतीत नहीं होता। हम 1981 विनियमों के विनियम 6(17) की व्याख्या थोड़ी देर बाद करने का प्रस्ताव करते हैं।

47. द्वितीय, 1969 नियमों के नियम 8(19) की व्याख्या करते समय वृहत्तर पीठ का दृष्टिकोण पूर्णतः *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 तथा ***के. सी. मैथ्यू*** *(उपर्युक्त)* और ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** *(उपर्युक्त)* के निर्णयों के विचार पर आधारित था। *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973* की धारा 313, जिसने 1898 संहिता की धारा 342 का स्थान लिया, तथा अभियुक्त के अधिकारों के संबंध में विधि को इस न्यायालय के अनेक परवर्ती निर्णयों में विस्तार से स्पष्ट किया गया है, जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। चूंकि 1973 संहिता की धारा 313 के अंतर्गत परीक्षा को प्राकृतिक न्याय का एक अंग माना गया है, अतः न्यायालय द्वारा साक्ष्य में प्रकट परिस्थितियों को अभियुक्त के समक्ष उपयुक्त प्रश्नों के माध्यम से प्रस्तुत करने में विफलता, जिसके परिणामस्वरूप उसकी परीक्षा त्रुटिपूर्ण हो जाती है, किसी उपयुक्त मामले में विचारण को दूषित (vitiated) ठहरा सकती है। धारा 313, 1973 संहिता के अंतर्गत परीक्षा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए, संसद ने वर्ष 2009 के अंतिम दिन इस प्रावधान में संशोधन भी किया है। इस परिप्रेक्ष्य में तथा समय के साथ, आपराधिक विचारणों में धारा 313 दण्ड प्रक्रिया संहिता के संबंध में 'हानि (prejudice) सिद्धांत' में कुछ हद तक शिथिलता (dilution) आई प्रतीत होती है; तथापि, चूंकि हम किसी आपराधिक विचारण से उत्पन्न अपील पर विचार नहीं कर रहे हैं, इसलिए यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इस निर्णय में हमने ऐसा कोई विधिक सिद्धांत प्रतिपादित किया है जिसे आपराधिक मामलों की सुनवाई करने वाले न्यायालयों के समक्ष दृष्टांत के रूप में उद्धृत किया जा सके। तथापि, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि ***के. सी. मैथ्यू*** *(उपर्युक्त)* ही एकमात्र ऐसा निर्णय नहीं था जो मार्गदर्शन प्रदान करता था। अन्य उच्च प्रामाणिकता वाले निर्णय भी उपलब्ध थे, जिनका संभवतः ***सुनील कुमार बनर्जी*** *(उपर्युक्त)* के निर्णय देने वाली पीठ के समक्ष उल्लेख नहीं किया गया था।

48. तृतीय, यह मान भी लिया जाए कि 'हानि (prejudice) सिद्धांत' का कुछ प्रासंगिकता है, तब भी यह युक्तिसंगत है कि जिन सिद्धांतों के आधार पर ***राम शंकर***

सिंह *(उपर्युक्त)* तथा ***के. सी. मैथ्यू*** *(उपर्युक्त)* के निर्णय दिए गए, वे *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 537 के परिप्रेक्ष्य में आधारित रहे होंगे, जिसके अनुसार अभियुक्त को यह प्रदर्शित करना आवश्यक होता है कि न्यायालय द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया के कारण न्याय की विफलता (failure of justice) हुई, तभी वह यह घोषित कराने का अधिकारी होता है कि विचारण या जांच दूषित हो गई है। जहाँ तक 1969 नियमों अथवा 1981 विनियमों का संबंध है, उनमें 1898 संहिता की धारा 537 या 1973 संहिता की धारा 465 के समान कोई प्रावधान नहीं है। यह 1898/1973 संहिताओं के अंतर्गत होने वाले विचारणों और 1969 नियमों/1981 विनियमों के अंतर्गत होने वाली जांचों के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर को दर्शाता है। हमारे विचार में, इस अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू को हमारे विचार-विमर्श से बाहर नहीं रखा जा सकता।

49. चतुर्थ, ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** *(उपर्युक्त)* का निर्णय ऐसा प्रतीत होता है कि ***सुनील कुमार बनर्जी*** *(उपर्युक्त)* में केवल औपचारिक रूप से संदर्भित किया गया था, बिना उसमें प्रतिपादित विधि का सम्यक् संज्ञान लिए। उस मामले में, *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 के उल्लंघन के कारण विचारण को दूषित ठहराया गया था, क्योंकि न्यायालय ने अभियुक्त के स्थान पर उसके अधिवक्ता की परीक्षा की थी। इसके अतिरिक्त, ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** *(उपर्युक्त)* के निर्णय में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया था कि धारा 342 के कौन-से भाग निर्देशात्मक (directory) हैं और कौन-से भाग अनिवार्य (mandatory) हैं। उक्त निर्णय में जिस प्रकार धारा 342 की व्याख्या की गई है, वह हमारे विचार-विमर्श पर भी प्रभाव डालेगी, जैसा कि आगे की चर्चा से स्पष्ट होगा।

50. पंचम, ***तारा सिंह*** *(उपर्युक्त)* का और भी वृहत्तर पीठ का निर्णय ***सुनील कुमार बनर्जी*** *(उपर्युक्त)* में अप्रतिबिंबित (unnoticed) रह गया।

51. पंचम, यह भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि आपराधिक विचारण में अभियुक्त का भाग्य एक न्यायिक अधिकारी द्वारा निर्धारित किया जाता है, जो एक निष्पक्ष एवं तटस्थ निर्णायक होता है; जबकि, प्रायः ऐसा होता है कि दोषारोपित अधिकारी/कर्मचारी का भाग्य उन जांच अधिकारियों के निर्णयों पर निर्भर करता है, जो उसी संगठन के सदस्य होते हैं और उसी नियोक्ता के अधीन कार्य करते हैं। यह नहीं कि हम उसी संगठन के सदस्यों के जांच अधिकारी के रूप में कार्य करने पर संदेह करते हैं–जो कई बार आवश्यकता से प्रेरित हो सकता है–किन्तु कुछ मामलों में उनकी निष्पक्षता और

तटस्थता के स्तर पर प्रश्न उठाया जा सकता है। यह एक महत्वपूर्ण परिस्थिति है, जिस पर विचार किया गया प्रतीत नहीं होता।

52. अंततः, और सबसे महत्वपूर्ण रूप से, उन चरणों के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है जहाँ एक ओर *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898* की धारा 342 / *दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973* की धारा 313 लागू होती हैं और दूसरी ओर 1969 नियमों के नियम 8(19) / 1981 विनियमों के विनियम 6(17) लागू होते हैं। आपराधिक विचारण में, अभियुक्त को उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने में सक्षम बनाने हेतु न्यायालय द्वारा प्रश्न पूछना (धारा 342/313 के अंतर्गत) दो चरणों पर विचारित होता है–
(a) अभियोजन द्वारा साक्ष्य समाप्त करने से पूर्व, तथा
(b) अभियोजन द्वारा साक्ष्य समाप्त करने के पश्चात् किन्तु अभियुक्त द्वारा अपने बचाव में साक्ष्य प्रस्तुत करने से पूर्व। उपरोक्त (a) के संबंध में न्यायालय के लिए अभियुक्त से प्रश्न करना विवेकाधीन (discretionary) है, जबकि (b) के संबंध में यह न्यायालय के लिए अनिवार्य (mandatory) है–जैसा कि ***बिभूति भूषण दास गुप्ता*** *(उपर्युक्त)* में स्पष्ट किया गया है। किन्तु, विचाराधीन प्रकार की विभागीय जांच में प्रक्रिया बिल्कुल समान नहीं होती। जांच की प्रक्रिया के अनुसार, विनियम 6(17) के अंतर्गत जिस प्रकार की परीक्षा का प्रावधान है, उसे प्रबंधन द्वारा साक्ष्य प्रस्तुत किए जाने के दौरान नहीं अपनाया जाता। जब प्रबंधन अपना साक्ष्य समाप्त कर देता है, तब दोषारोपित अधिकारी को अपने बचाव में साक्ष्य प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता है। दोषारोपित अधिकारी पर साक्ष्य प्रस्तुत करने का कोई दायित्व नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा करना चुनता है, तो वह अपने जोखिम पर ऐसा करता है और उसके परिणामों को वहन करना पड़ता है; अर्थात् वह यह दावा नहीं कर सकता कि जांच अधिकारी उस पर उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर उससे सामान्य रूप से प्रश्न करने के लिए बाध्य है। यदि दोषारोपित अधिकारी बचाव साक्ष्य प्रस्तुत करने का विकल्प चुनता है, तो उसमें स्वयं के अतिरिक्त अन्य साक्षी भी सम्मिलित हो सकते हैं; अथवा उसमें अन्य साक्षियों के साथ स्वयं भी सम्मिलित हो सकता है। दोषारोपित अधिकारी यह विकल्प भी चुन सकता है कि वह किसी अन्य साक्षी की परीक्षा न कराकर केवल स्वयं की ही परीक्षा कराए। जब बचाव पक्ष के साक्षियों का साक्ष्य अभिलिखित हो जाता है और बचाव साक्ष्य समाप्त हो जाता है, तब 1981 विनियमों के विनियम 6(17) या 1969 नियमों के नियम 8(19) के अनुप्रयोग का चरण आता है। यह अंतर महत्वपूर्ण है, जिसे हम उपर्युक्त विकल्पों के आलोक में आगे स्पष्ट करने का प्रस्ताव करते हैं।

53. रोचक रूप से, विनियम 6(17) तथा नियम 8(19) दोनों में 'may' और 'shall' शब्दों का प्रयोग किया गया है। जहाँ विनियम 6(17) का प्रथम भाग 'may' का उल्लेख करता है, वहीं उसका द्वितीय भाग 'shall' का उल्लेख करता है। अभियुक्त अधिकारी को उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने में सक्षम बनाने हेतु, यह प्रावधान एक ओर जांच अधिकारी को विवेकाधिकार प्रदान करता है तथा दूसरी ओर उस पर एक अनिवार्य दायित्व भी आरोपित करता है। यदि दोषारोपित अधिकारी स्वयं अपने बचाव में साक्षी के रूप में प्रस्तुत होता है, तो उससे प्रश्न करना जांच अधिकारी के लिए विवेकाधीन (discretionary) होता है; किन्तु यदि दोषारोपित अधिकारी ने स्वयं को बचाव साक्षी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, तो विधि का यह अनिवार्य निर्देश है कि जांच अधिकारी उसे उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट परिस्थितियों के संबंध में सामान्य रूप से प्रश्न करेगा।

54. एक ही प्रावधान में 'may' और 'shall' शब्दों का प्रयोग यह इंगित करता है कि विनियम 6(17) का वही अभिप्राय है जो उसके शब्दों से स्पष्ट होता है। 'may' और 'shall' शब्दों का प्रयोग क्रमशः 'may' और 'shall' के ही अर्थ में किया गया है, और हम ऐसी किसी व्याख्या-प्रणाली की कल्पना नहीं कर सकते जिसके आधार पर यह माना जाए कि विनियम 6(17) के द्वितीय भाग में प्रयुक्त 'shall' को भी 'may' के रूप में पढ़ा और समझा जाए। हमारे मत में 'shall' शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है ताकि यह प्रदर्शित हो सके कि यह 'may' के साथ अदल-बदल योग्य नहीं है; यदि ऐसा होता, तो प्रावधान-निर्माताओं ने सीधे 'shall' के स्थान पर 'may' का ही प्रयोग किया होता, विशेषतः जब प्रथम भाग में 'may' का प्रयोग पहले से किया जा चुका है। इस प्रकार, 'may' और 'shall' जैसे भिन्नार्थक शब्दों का एक ही प्रावधान में प्रयोग, जिनके अर्थ और परिणाम भिन्न हैं, तथा जो एक ही जांच प्रक्रिया में भिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं, यह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि विनियम 6(17) का प्रथम भाग निर्देशात्मक (directory) है, जबकि उसका द्वितीय भाग अनिवार्य है।

55. अतः, हम बिना किसी संकोच के यह अभिनिर्धारित करते हैं कि जांच अधिकारी ने, अपीलकर्ता के विरुद्ध उपलब्ध साक्ष्य में निहित प्रतिकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों के संबंध में उससे सामान्य रूप से प्रश्न न करके, अपने अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं किया। ऐसी कोई भी परिस्थिति, जो अपीलकर्ता के विरुद्ध प्रतिकूल थी, उसे जांच अधिकारी द्वारा विचार से बाहर रखा जाना चाहिए था। यह स्वीकार्य नहीं है कि यद्यपि जांच अधिकारी ने 1981 विनियमों का उल्लंघन करते हुए कार्य किया, फिर भी उसकी

कार्यवाही को इस आधार पर बनाए रखा जाए कि अपीलकर्ता वास्तविक हानि (prejudice) प्रदर्शित करने में असफल रहा है। न तो **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) और न ही **आलोक कुमार** (उपर्युक्त) ने इस मुद्दे का हमारे दृष्टिकोण से परीक्षण किया है, और चूँकि संविधान पीठ के तीन निर्णय–**तुलसीराम पटेल** (उपर्युक्त), **ओल्गा टेलिस** (उपर्युक्त) तथा **ए. आर. अंतुले** (उपर्युक्त)–**सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) के पश्चात् दिए गए हैं और **आलोक कुमार** (उपर्युक्त) में उन पर विचार नहीं किया गया, अतः बाद के निर्णयों का अनुपात (ratio) हमें बाध्यकारी नहीं माना जा सकता। आलोक कुमार (उपर्युक्त) ने **हरियाणा वित्त निगम बनाम कैलाश चंद्र आहूजा**30 पर निर्भरता व्यक्त की थी। **राम प्रकाश सिंह** (उपर्युक्त) में, हमने 'हानि (prejudice) सिद्धांत' के समस्त पहलू का विस्तृत परीक्षण किया है तथा अपनी समझ के अनुसार यह स्पष्ट किया है कि **बी. करुणाकर** (उपर्युक्त) के संविधान पीठ के निर्णय के अपूर्ण पठन के कारण उसके अनुपात में किस प्रकार शिथिलता आई है। यह सत्य है कि उच्च न्यायालय **सुनील कुमार बनर्जी** (उपर्युक्त) और **आलोक कुमार** (उपर्युक्त) से बाध्य था, किन्तु हमारे मत में, उक्त निर्णय प्रतिवादी के पक्ष में सहायक नहीं हो सकते।

56. हमने उच्च न्यायालय के उस तर्क पर विचार किया है कि जांच अधिकारी द्वारा साक्ष्य समाप्त होने से पूर्व अपीलकर्ता को अपनी प्रस्तुतियाँ करने का अवसर प्रदान किया गया था। तथापि, ऐसा अवसर विनियम 6(17) के अंतर्गत जांच अधिकारी पर आरोपित कर्तव्य के स्वरूप के अनुरूप नहीं है। उक्त विनियम यह अपेक्षा करता है कि यदि दोषारोपित अधिकारी ने अपने बचाव में स्वयं को साक्षी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, तो जांच अधिकारी उसे उसके विरुद्ध साक्ष्य में प्रकट प्रतिकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों के संबंध में प्रश्न करे। इसका उद्देश्य दोषारोपित अधिकारी को उन प्रतिकूल परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने का अवसर प्रदान करना है। यह 1981 विनियमों द्वारा परिकल्पित अनेक प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों में से एक है। आरोपित कर्तव्य और प्रदान किया गया अवसर समान नहीं हैं। विनियम 6 के अंतर्गत जांच अर्द्ध-न्यायिक (quasi-judicial) प्रकृति की होने के कारण, विनियम 6(17) जांच अधिकारी (जो सामान्यतः विधि में प्रशिक्षित नहीं होता) पर यह गंभीर दायित्व आरोपित करता है कि वह अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य पर गंभीरतापूर्वक विचार करे और अपने निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया के भाग के रूप में दोषारोपित अधिकारी को यह संकेत दे कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जो जांच प्रतिवेदन में अंतिम निष्कर्ष तक पहुँचने में उसके विचार को प्रभावित कर सकती हैं। ऐसी परिस्थितियों को इंगित किए जाने के पश्चात्, दोषारोपित अधिकारी उन्हें स्पष्ट करे या न करे, यह उसका विकल्प है; किन्तु बिना उन परिस्थितियों को इंगित

किए केवल उसे अपना पक्ष रखने का अवसर प्रदान करना, विनियम 6(17) के पर्याप्त अनुपालन (substantial compliance) के समकक्ष नहीं है और न ही माना जा सकता है।

57. यह कहते हुए भी, हम इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं रह सकते कि अपीलकर्ता ने उच्च न्यायालय के रिट अधिकार क्षेत्र का सहारा लेने से पूर्व किसी भी चरण पर जांच अधिकारी द्वारा विनियम 6(17) का कठोरता से पालन न किए जाने के संबंध में कोई प्रभावी आपत्ति नहीं उठाई। जब जांच अधिकारी द्वारा दोषारोपित अधिकारी से प्रश्न नहीं किए गए, तब अपीलकर्ता को प्रथम अवसर पर ही अनुशासनात्मक प्राधिकारी के समक्ष यह आपत्ति उठानी चाहिए थी; और यदि उसने ऐसा नहीं किया, तो उसे अपने अपील प्रस्तुत करते समय अपीलीय प्राधिकारी के समक्ष यह आपत्ति अवश्य उठानी चाहिए थी। यदि ऐसी आपत्ति इन दोनों स्तरों में से किसी पर भी नहीं उठाई जाती और रिट याचिका में भी इस चूक का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता, तो न्यायालय यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि विनियम 6(17) के पालन न किए जाने से दोषारोपित अधिकारी पर कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ा, और ऐसी स्थिति में वह इस निष्कर्ष के आधार पर उपयुक्त आदेश पारित करने के लिए स्वतंत्र होगा।

58. वर्तमान मामले में, अपीलकर्ता ने इस संबंध में अनुशासनात्मक प्राधिकारी के समक्ष कोई आपत्ति नहीं उठाई, किन्तु अपीलीय प्राधिकारी के समक्ष सामान्य रूप से विनियम 6 के पालन न किए जाने का मुद्दा उठाया। दुर्भाग्यवश, यह मुद्दा अनदेखा रह गया और उस पर विचार नहीं किया गया, क्योंकि, जैसा कि हम आगामी अनुच्छेदों में विस्तार से उल्लेख करेंगे, अपीलीय प्राधिकारी ने अपना ध्यान अपीलकर्ता द्वारा उठाई गई एक अन्य महत्वपूर्ण आपत्ति पर अधिक केंद्रित किया और उसे विस्तृत कारण देकर अस्वीकार कर दिया, जो तथापि हमें संतोषजनक नहीं प्रतीत होते। तथापि, परिस्थितियाँ जो भी हों, अपीलकर्ता हमारे समक्ष यह शिकायत उठाने में न्यायोचित है कि उसे विनियम 6 के अनुसार अपने बचाव के लिए निष्पक्ष, युक्तियुक्त एवं पर्याप्त अवसर प्रदान नहीं किया गया, जिससे उसके संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा संरक्षित अधिकार का उल्लंघन हुआ।

59. एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू, जिस पर विचार किया जाना अपेक्षित है और जिसका संक्षिप्त उल्लेख हमने पूर्ववर्ती अनुच्छेद में किया था, स्वीकारतः श्री नूली द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया। हमने ध्यान दिया है कि यह मुद्दा एकल न्यायाधीश के समक्ष उठाया गया था, किन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। तथापि, हमने निर्णय सुरक्षित रखने के पश्चात् इस बिंदु पर श्री पाटिल का मत जानने के लिए, दीवानी प्रक्रिया संहिता,

1908 के आदेश XLI नियम 33 के अंतर्गत अपीलीय न्यायालय की शक्ति को ध्यान में रखते हुए, अपील को पुनः सूचीबद्ध किया। अपीलकर्ता ने अपीलीय प्राधिकारी के समक्ष जोरदार ढंग से यह तर्क रखा था कि प्रारंभ में अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने उस पर सेवा से अनिवार्य सेवानिवृत्ति का दंड आरोपित करने का प्रस्ताव किया था। मुख्य सतर्कता अधिकारी31 ने भी इस प्रस्ताव से सहमति व्यक्त की थी। इसके पश्चात् अभिलेख केंद्रीय सतर्कता आयोग32 के समक्ष प्रस्तुत किया गया। तथापि, सीवीसी ने अनुशासनात्मक प्राधिकारी एवं सीवीओ दोनों के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए यह अनुशंसा की कि दोषारोपित अधिकारी के प्रति कोई उदारता न बरती जाए, क्योंकि वह वित्तीय अनियमितताओं का दोषी पाया गया है, और अतः उसे सेवा से 'बर्खास्त' किया जाए। अपीलकर्ता के अनुसार, अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने सीवीसी के निर्देशों के अनुसार कार्य करते हुए उसे सेवा से बर्खास्त कर दिया। अपीलकर्ता की मुख्य आपत्ति यह थी कि सीवीसी की अनुशंसा उसे कभी उपलब्ध नहीं कराई गई, जिससे उसके निष्पक्ष प्रतिरक्षा के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जब इस मुद्दे को अपीलीय प्राधिकारी के समक्ष चुनौती दी गई, तो उसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया गया कि सीवीसी की अनुशंसा एक विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेज है तथा अपीलकर्ता ने ऐसे आंतरिक दस्तावेजों का उल्लेख करके अपेक्षित आचरण संहिता का उल्लंघन किया है, जिन तक उसे सामान्यतः पहुंच प्राप्त नहीं हो सकती थी।

60. ***भारतीय स्टेट बैंक बनाम डी. सी. अग्रवाल63*** में, निर्णय हेतु उत्पन्न प्रश्न को अनुच्छेद 1 में अभिलिखित किया गया है, जो इस प्रकार है:

"क्या अनुशासनात्मक प्राधिकारी, प्रमुख या लघु दंड आरोपित करते समय, ऐसे सामग्री पर कार्य कर सकता है जो न तो दोषारोपित को उपलब्ध कराई गई हो और न ही उसे दिखाई गई हो–यही एकमात्र महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो इस अपील में विचारार्थ उत्पन्न होता है, जो ... द्वारा दायर की गई है?"

61. वर्तमान मामले के लगभग समान एक प्रकरण में, इस न्यायालय ने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि जब अनुशासनात्मक प्राधिकारी सीवीसी की उस अनुशंसा को स्वीकार करता है जो उसके मूल प्रस्ताव से भिन्न है, तब उस प्राधिकारी पर यह दायित्व है कि वह ऐसी अनुशंसा पर कार्य करने से पूर्व उसकी प्रति दोषारोपित कर्मचारी को उपलब्ध कराए। इस प्रकार अभिनिर्धारित किया गया कि:

"5. नियम 50 के उपनियम (5) पर निर्भरता व्यक्त की गई, जो इस प्रकार है–

‘(5) उपनियम (3) तथा (4) के अंतर्गत, जैसा भी मामला हो, अनुशासनात्मक प्राधिकारी अथवा नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा पारित आदेश संबंधित कर्मचारी को संप्रेषित किए जाएंगे, तथा उसे जांच प्रतिवेदन की प्रति भी उपलब्ध कराई जाएगी, यदि कोई हो।

---

30. (2008) 9 एससीसी 31
31. सीवीओ
32. सीवीसी
33. (1993) 1 एससीसी 13

“यह तर्क दिया गया कि जांच प्रतिवेदन की प्रति प्रतिवादी को उपलब्ध करा दी गई थी, अतः नियम का पालन हो गया था और उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालने में त्रुटि की कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन हुआ है। माननीय अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल ने यह तर्क रखा कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत को समाहित किया गया था और उसका पालन भी किया गया, अतः न्यायालय द्वारा नियम की गलत व्याख्या करना उचित नहीं था। अधिवक्ता ने यह भी कहा कि बैंक ने प्रतिवादी के साथ पूर्ण निष्पक्षता बरती और अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री का स्वतंत्र मूल्यांकन करते हुए तथा सीवीसी की अनुशंसा से अप्रभावित होकर आदेश पारित किया। यह भी बलपूर्वक कहा गया कि यदि कार्यवाही यांत्रिक होती, तो अनुशासनात्मक प्राधिकारी दंड के संबंध में सीवीसी की अनुशंसा से असहमति नहीं जताता। अधिवक्ता ने यह भी प्रस्तुत किया कि किसी भी स्थिति में, अनुशासनात्मक प्राधिकारी द्वारा अभिलेख की प्रत्येक सामग्री पर विचार करते हुए विस्तृत आदेश पारित किया गया तथा प्रतिवादी द्वारा अपील भी दायर की गई, अतः उसे कोई हानि (prejudice) नहीं हुई। इनमें से कोई भी तर्क सहायक नहीं है। आदेश इस कारण दूषित है कि न तो केवल शक्तियों का यांत्रिक प्रयोग हुआ और न ही केवल जांच प्रतिवेदन की प्रति उपलब्ध न कराने के कारण, बल्कि इस कारण कि ऐसे सामग्री पर निर्भरता रखी गई और उस पर कार्य किया गया जो न केवल अप्रासंगिक थी, बल्कि जिस पर विचार भी नहीं किया जाना चाहिए था। किसी दस्तावेज की प्रति उपलब्ध कराने का उद्देश्य उसकी सत्यता को चुनौती देना या उसका स्पष्टीकरण देना होता है। दंड आरोपित करने से पूर्व जांच अधिकारी के प्रतिवेदन की प्रति उपलब्ध न कराने के प्रभाव पर विचार करना आवश्यक नहीं है और न ही उपनियम (5) की वैधता पर विचार करना आवश्यक है। किन्तु सीवीसी की अनुशंसा, जो प्रतिवादी की अनुपस्थिति में, उसके बिना सहभागिता के तैयार की गई थी, और

जिसके संबंध में यह ज्ञात नहीं कि किस सामग्री के आधार पर, जो न केवल अनुशासनात्मक प्राधिकारी को भेजी गई बल्कि उस पर विचार कर उस पर निर्भरता भी रखी गई, उसकी प्रति उपलब्ध न कराना, निश्चित रूप से प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों का उल्लंघन है और निष्पक्ष एवं न्यायसंगत जांच के प्रतिकूल है। प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत पत्र से, जिसकी प्रामाणिकता माननीय अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल द्वारा सत्यापित की गई है, यह प्रतीत होता है कि बैंक ने प्रतिवादी के सीवीसी अनुशंसा की प्रति प्रदान करने के अनुरोध को यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि–'केंद्रीय सतर्कता आयोग के साथ पत्राचार एक विशेषाधिकार प्राप्त संप्रेषण है और उसे अग्रेषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा पारित आदेश में सीवीसी की अनुशंसा पर विचार किया गया है, जिसे पर्याप्त माना गया है।' किसी कर्मचारी के विरुद्ध ऐसे गोपनीय दस्तावेज के आधार पर कार्रवाई करना, जो आदेश का आधार है, यह दर्शाता है कि अनुशासनात्मक प्राधिकारी द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के संबंध में गंभीर भ्रम रहा है। संभव है कि अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने अपने स्वतंत्र निष्कर्ष दर्ज किए हों और यह संयोग हो कि दोषसिद्धि के निष्कर्ष का तर्क एवं आधार सीवीसी प्रतिवेदन के समान हो, किन्तु चूंकि वह सामग्री प्रतिवादी की जानकारी के बिना, उसकी अनुपस्थिति में प्राप्त की गई थी और उसकी प्रति भी उसे उपलब्ध नहीं कराई गई थी, इसलिए हमारे मत में उच्च न्यायालय ने आदेश को निरस्त करने में कोई त्रुटि नहीं की। सतर्कता प्रतिवेदन की प्रति उपलब्ध न कराना अपील में उठाए गए आधारों में से एक था; किन्तु ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि अनुशासनात्मक प्राधिकारी द्वारा आदेश पारित किए जाने से पूर्व प्रतिवादी को यह ज्ञात ही नहीं था कि सीवीसी ने उसके विरुद्ध कोई प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है। माननीय अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल का यह तर्क कि सीवीसी की अनुशंसाएँ गोपनीय होती हैं और उनकी प्रति उपलब्ध नहीं कराई जा सकती, स्वीकार्य नहीं है। कार्यवाही प्रारंभ होने से पूर्व की सतर्कता संबंधी अनुशंसाएँ भिन्न होती हैं, किन्तु वह सीवीसी अनुशंसा, जो अनुशासनात्मक प्राधिकारी के आदेश का आधार बनी, उससे भिन्न है।"

62. इसी सिद्धांत को ***मोहम्मद कुर्रमुद्दीन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य***34 में पुनः इस प्रकार दोहराया गया:

"3. गुण-दोष के आधार पर, अधिकरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन हुआ है, क्योंकि दोषारोपित को सतर्कता आयोग के प्रतिवेदन की प्रति उपलब्ध नहीं कराई गई थी, जबकि वह जांच अभिलेख का भाग था तथा ऐसा सामग्री था जिस पर अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने विचार किया था। अधिकरण ने यह

अवलोकन किया कि जब ऐसा कोई सामग्री, जिस पर अनुशासनात्मक प्राधिकारी निर्भर करता है, दोषारोपित को प्रकट नहीं किया जाता, तो यह माना जाएगा कि उसे सुनवाई का अवसर प्रदान नहीं किया गया, अर्थात् *audi alteram partem* का सिद्धांत उल्लंघित हुआ है। वर्तमान मामले में, अधिकरण ने पाया कि इस संबंध में दिनांक 30-3-1971 के शासकीय ज्ञापन संख्या 821/Services-C/69-8 में निहित निर्देशों का पालन नहीं किया गया था। यदि अधिकरण इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा होता कि वाद समय-सीमा द्वारा बाधित है, तो वह दोषारोपित द्वारा दायर अपील को स्वीकार कर लेता।"

63. और भी पूर्व के एक निर्णय, अर्थात् **बृज नंदन कंसल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**35 में, इस न्यायालय के समक्ष एक समान प्रश्न विचारार्थ था। उस मामले के संक्षिप्त तथ्य यह थे कि अपीलकर्ता बृज नंदन कंसल, उत्तर प्रदेश राज्य की सेवा में, यू.पी. सिविल सेवा (कार्यकारी शाखा) के सदस्य के रूप में कार्यरत थे। उन्हें जून 1962 से अक्टूबर 1964 के बीच बरेली में क्षेत्रीय परिवहन मजिस्ट्रेट के रूप में पदस्थापित किया गया था। अपीलकर्ता के विरुद्ध अनेक आरोप लगाए गए और राज्य सरकार ने उन आरोपों की जांच के लिए, यू.पी. अनुशासनात्मक कार्यवाही (प्रशासनिक अधिकरण) नियम, 1947 के अंतर्गत गठित यू.पी. प्रशासनिक अधिकरण को मामला संदर्भित किया। अपीलकर्ता के विरुद्ध लगाए गए छह आरोपों में से, अधिकरण ने प्रथम आरोप को सिद्ध न होने का निष्कर्ष दिया, किन्तु शेष पाँच आरोपों के संबंध में अपीलकर्ता के विरुद्ध निष्कर्ष दर्ज किए। तत्पश्चात् राज्यपाल ने अपीलकर्ता को कारण बताओ नोटिस जारी किया, जिसमें उससे यह बताने को कहा गया कि उसे सेवा से बर्खास्त क्यों न किया जाए। अपीलकर्ता ने प्रत्येक आरोप पर अधिकरण द्वारा दर्ज निष्कर्षों पर विस्तृत टिप्पणी करते हुए उत्तर प्रस्तुत किया। अधिकरण ने कारण बताओ नोटिस के उत्तर तथा पूर्व में आरोपों पर दिए गए अपने निष्कर्षों पर की गई टिप्पणियों पर विचार किया और उसके पश्चात् राज्यपाल को विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उस प्रतिवेदन में, अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य के विस्तृत विश्लेषण के आधार पर, अधिकरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि अपीलकर्ता के विरुद्ध लगाए गए आरोपों को सिद्ध करने हेतु कोई ठोस साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। अधिकरण के प्रतिवेदन प्राप्त होने पर, राज्य सरकार ने प्रतीत होता है कि इस मामले को विधि सलाहकार (Legal Remembrancer) के मत हेतु संदर्भित किया। विधि सलाहकार ने अधिकरण के प्रतिवेदन में दर्ज निष्कर्षों से असहमति व्यक्त की और यह मत दिया कि अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है जिससे आरोप संख्या 2 से 5 को अपीलकर्ता के विरुद्ध सिद्ध माना जा सकता है। विधि सलाहकार के मत के आधार पर, राज्यपाल ने अधिकरण के निष्कर्षों की अवहेलना करते हुए अपीलकर्ता को सेवा से

बर्खास्त करने का विवादित आदेश पारित किया। इस न्यायालय ने अपील स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि:

"7. … अधिकरण को यह प्रमुख दायित्व सौंपा गया था कि वह जांच करे और आरोपों पर अपने निष्कर्ष अभिलिखित करे। इस प्रक्रिया में वह अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य की पर्याप्तता, अपर्याप्तता या विश्वसनीयता का परीक्षण कर सकता था। विधि सलाहकार (Legal Remembrancer) का मत था कि अधिकरण साक्ष्य की पर्याप्तता या अपर्याप्तता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता और इस उद्देश्य के लिए उसने प्रशासनिक कार्यवाहियों के न्यायिक पुनरीक्षण के स्थापित सिद्धांतों पर भरोसा किया। अधिकरण न्यायालय के कार्यों का निर्वहन नहीं कर रहा था, बल्कि वह एक जांच प्राधिकारी के रूप में कार्य कर रहा था और उसे साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करने तथा अपने निष्कर्ष अभिलिखित करने की पूर्ण शक्ति प्राप्त थी, और इस प्रक्रिया में यह उसके लिए खुला था कि वह यह निष्कर्ष निकाले कि अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य अपीलकर्ता के विरुद्ध आरोपों को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। विधि सलाहकार का सम्पूर्ण दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण था, जिसके परिणामस्वरूप उसने यह मत व्यक्त किया कि अधिकरण द्वारा अपीलकर्ता के पक्ष में दर्ज निष्कर्षों की उपेक्षा की जा सकती है। हमारे मत में, राज्य सरकार न्यायालय द्वारा प्रशासनिक कार्यवाहियों के न्यायिक पुनरीक्षण के सिद्धांतों को लागू करके अधिकरण के निष्कर्षों की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। राज्य सरकार ने यह गंभीर विधिक त्रुटि की कि उसने अधिकरण के निष्कर्षों की उपेक्षा करते हुए, अपीलकर्ता को प्रस्तावित दृष्टिकोण के विरुद्ध कारण बताने का अवसर दिए बिना, विधि सलाहकार की रिपोर्ट के आधार पर विवादित आदेश पारित कर दिया। अधिकरण के दिनांक 7-7-1970 के निष्कर्ष स्पष्ट रूप से यह दर्शाते हैं कि अपीलकर्ता के विरुद्ध आरोपों को सिद्ध करने के लिए कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं था, और ऐसी स्थिति में अपीलकर्ता के विरुद्ध सेवा से बर्खास्तगी का विवादित आदेश विधिसम्मत रूप से पारित नहीं किया जा सकता था।"

64. हम इस निष्कर्ष पर दृढ़ हैं कि सीवीसी की अनुशंसा ने अनुशासनात्मक प्राधिकारी के मन पर इतना प्रभाव डाला कि उसने प्रस्तावित दंड–अनिवार्य सेवानिवृत्ति–को बदलकर अपीलकर्ता की बर्खास्तगी कर दी। अपीलकर्ता की अनुपस्थिति में सीवीसी की अनुशंसा प्राप्त की गई और उसे कम दंड के लिए निवेदन करने का कोई अवसर नहीं दिया गया, जिसके कारण जांच दूषित हो गई। सीवीसी की अनुशंसा ऐसा सामग्री थी जिस पर अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने कम-से-कम दंड निर्धारित करने के उद्देश्य से विचार किया।

एक बार जब ऐसी अनुशंसा अनुशासनात्मक प्राधिकारी के विचारार्थ आई, तो उसकी प्रति अपीलकर्ता को देने से इंकार नहीं किया जा सकता था। यह कहने के पश्चात्, हम सभी अनुशासनात्मक प्राधिकारियों पर यह स्थायी दायित्व आरोपित करने का प्रस्ताव नहीं करते कि दंड आरोपित करने से पूर्व सुनवाई प्रदान की जाए, यदि ऐसा प्रावधान संबंधित नियमों में न हो। हमारा आग्रह केवल इतना है कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का पालन किया जाए, जो कि **बी. करुणाकर** (उपर्युक्त) के संविधान पीठ के निर्णय के आलोक में यह स्वीकार करते हैं कि दोषारोपित अधिकारी को उस किसी भी सामग्री से वंचित नहीं किया जा सकता जिस पर अनुशासनात्मक प्राधिकारी दंड आरोपित करते समय विचार करता है। ऐसा अधिकारी उस प्रत्येक दस्तावेज तक पहुँच का अधिकारी है जिसका उपयोग उसके दोषसिद्ध आचरण (misconduct) के निर्धारण में किया गया हो या जिसे दंड निर्धारित करते समय विचार में लिया गया हो।

65. अब हम एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू पर विचार करते हैं, अर्थात् अपीलीय प्राधिकारी द्वारा अपीलकर्ता को सीवीसी की अनुशंसा का प्रकटीकरण न करने के समर्थन में किए गए विशेषाधिकार (privilege) के दावे पर। यद्यपि *भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872* 36 अनुशासनात्मक कार्यवाहियों पर लागू नहीं होता, तथापि उसमें निहित सिद्धांत इस दावे की वैधता के संबंध में पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं। ***पंजाब राज्य बनाम सोढ़ी सुखदेव सिंह***37 में, इस न्यायालय को इस विषय पर औपनिवेशिक विधि तथा उसके भारतीय विधि में विकास का अनुगमन करने का अवसर प्राप्त हुआ। प्रासंगिक अंश निम्नलिखित हैं:

"13. वह सिद्धांत जिसके आधार पर इस प्रकार का अपवाद उचित ठहराया जा सकता है और ठहराया जाता है, वह सार्वजनिक हित की सर्वोपरि एवं प्रमुख प्रकृति का सिद्धांत है। धारा 123 के अंतर्गत किया गया एक वैध विशेषाधिकार (privilege) का दावा इस आधार पर टिका होता है कि संबंधित दस्तावेज के प्रस्तुत किए जाने से सार्वजनिक हित को क्षति पहुँचेगी, और जहाँ सार्वजनिक हित तथा निजी हित के बीच टकराव उत्पन्न होता है, वहाँ निजी हित को सार्वजनिक हित के समक्ष झुकना होगा। निस्संदेह, वह वादकारी, जिसका दावा संबंधित और महत्वपूर्ण दस्तावेज के प्रस्तुत न किए जाने के कारण सफल नहीं हो पाता, स्वयं को पीड़ित महसूस कर सकता है, और न्यायालय भी ऐसा निर्णय लेते समय असंतुष्ट अनुभव कर सकता है; किन्तु इससे इस मूल सिद्धांत की वैधता प्रभावित नहीं होती कि सार्वजनिक हित एवं सार्वजनिक कल्याण, निजी हित एवं निजी लाभ से ऊपर होते हैं। तथापि, यह सावधानी बरतना आवश्यक है कि सार्वजनिक हित के

अतिरिक्त अन्य हित, सार्वजनिक हित के आवरण में छिपकर धारा 123 के प्रावधानों का अनुचित लाभ न उठा लें। इस आरक्षण के अधीन, "salus populi est suprema lex" (अर्थात् जनकल्याण ही सर्वोच्च विधि है) यह सिद्धांत धारा 123 में निहित प्रावधानों का आधार है। यद्यपि धारा 123 में सार्वजनिक हित को होने वाली क्षति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि यह सिद्धांत उसमें निहित है और वास्तव में उसी का एकमात्र आधार है।

---

34. (1994) 5 एससीसी 118
35. (1988) सप्लीमेंटरी एससीसी 76
36. एविडेंस एक्ट
37. 1960 एससीसी ऑनलाइन एससी 38

14. जब हम धारा 123 के प्रावधानों के आधारभूत सिद्धांत पर विचार कर रहे हैं, तब यह विचार करना प्रासंगिक हो सकता है कि क्या न्याय का निष्पक्ष एवं निर्भीक प्रशासन स्वयं उच्च सार्वजनिक महत्व का विषय नहीं है। नागरिक और नागरिक के बीच अथवा नागरिक और राज्य के बीच न्याय का निष्पक्ष प्रशासन अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण सार्वजनिक महत्व का विषय है; और इससे भी अधिक, संपूर्ण न्यायिक व्यवस्था का प्रशासन अत्यंत उच्च सार्वजनिक महत्व का विषय होगा। फिर भी, सिद्धांततः, यदि किसी लंबित मामले में सार्वजनिक हित और किसी व्यक्ति के हित के बीच वास्तविक (न कि काल्पनिक या कृत्रिम) टकराव उत्पन्न होता है, तो अनिच्छा से ही सही, यह स्वीकार करना पड़ सकता है कि व्यक्तिगत हित, सार्वजनिक हित पर वरीयता प्राप्त नहीं कर सकता। यदि सामाजिक सुरक्षा और प्रगति–जो सार्वजनिक हित की अवधारणा में अनिवार्य रूप से निहित हैं–आदर्श हैं, तो उस आदर्श को होने वाली क्षति को सिद्धांततः टालना आवश्यक है, भले ही इसके लिए किसी विशेष मामले में संबंधित व्यक्ति के हित का त्याग करना पड़े। इसी कारण, न्यायालयों को धारा 123 के अंतर्गत किए गए विशेषाधिकार के दावों के संबंध में सतर्क रहना चाहिए और उन्हें ऐसा होना भी चाहिए।

15. यदि धारा 123 के अंतर्गत यह विवाद उत्पन्न हो कि क्या संबंधित साक्ष्य अप्रकाशित आधिकारिक अभिलेखों से प्राप्त हुआ है, तो उसका समाधान अपेक्षाकृत सरलता से किया जा सकता है; किन्तु जो प्रश्न पर्याप्त कठिनाई उत्पन्न करता है, वह यह है कि क्या संबंधित साक्ष्य 'राज्य के कार्यों' (affairs of State) से संबंधित है। धारा 123 के अंतर्गत 'राज्य के कार्य' क्या हैं? उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'राज्य के

कार्य' का दायरा अपेक्षाकृत सीमित रहा होगा। उस समय प्रचलित शासन-कार्य एवं दायित्वों की धारणा को देखते हुए, 'राज्य के कार्य' का अभिप्राय सामान्यतः राजनीतिक या प्रशासनिक प्रकृति के उन विषयों से होता था जो, उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय रक्षा, सार्वजनिक शांति एवं सुरक्षा तथा पड़ोसी राज्यों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंधों से संबंधित हों। अतः यदि दस्तावेजों की विषय-वस्तु ऐसी हो कि उनके प्रकटीकरण से राष्ट्रीय रक्षा, सार्वजनिक सुरक्षा या मैत्रीपूर्ण अंतरराष्ट्रीय संबंध प्रभावित हों, तो वे 'राज्य के कार्यों' से संबंधित दस्तावेज माने जा सकते हैं। एक अन्य श्रेणी के दस्तावेज भी इस विशेषाधिकार का दावा कर सकते हैं, जो उनकी विषय-वस्तु के कारण नहीं, बल्कि इस कारण कि उनके प्रकटीकरण से लोक-नीतियों के निर्धारण एवं क्रियान्वयन में अभिमतों की स्वतंत्रता और स्पष्टता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस श्रेणी में संबंधित अभिलेखों पर अधिकारियों द्वारा बनाए गए टिप्पणियाँ (notes) एवं विवरण (minutes), व्यक्त किए गए मत (opinions), तैयार की गई प्रतिवेदन (reports), तथा नीतिगत प्रश्नों के निर्धारण की प्रक्रिया में लिए गए आधिकारिक निर्णयों का सार (gist) विधिपूर्वक सम्मिलित किए जा सकते हैं। सार्वजनिक कार्यों के कुशल प्रशासन के हित में, सरकार ऐसे दस्तावेजों को गोपनीय मान सकती है और यह आग्रह कर सकती है कि उनके प्रकटीकरण को सार्वजनिक हित को संभावित क्षति के आधार पर रोका जाए। अर्थात्, यदि किसी दस्तावेज अथवा दस्तावेजों के किसी वर्ग के प्रकटीकरण से लोक सेवा के समुचित संचालन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो, तो ऐसे दस्तावेज या दस्तावेजों का वह वर्ग भी 'राज्य के कार्यों' से संबंधित दस्तावेजों का दर्जा प्राप्त कर सकता है।

16. यह संभव है कि जब यह अधिनियम पारित किया गया था, तब शासन-कार्य की अवधारणा और उसका विस्तार सीमित था, और उसी के अनुरूप 'राज्य के कार्य' (affairs of State) शब्दों की अवधारणा भी सीमित थी; किन्तु जैसा कि प्रायः कहा जाता है, शब्द विचारों या अवधारणाओं के स्थिर माध्यम नहीं होते। जैसे-जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त विचारों या अवधारणाओं का विस्तार होता है, वैसे-वैसे उन शब्दों का आशय भी उस विस्तार के साथ विकसित होता जाता है, और स्वाभाविक रूप से इससे उस सार्वजनिक हित का क्षेत्र भी विस्तृत होता है जिसकी रक्षा यह धारा करना चाहती है। राज्य के कार्यों की अवधारणा में इस परिवर्तन का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि राज्य अपने कल्याणकारी उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उन गतिविधियों में भी बढ़ते स्तर पर संलग्न होने लगा है, जिन्हें पूर्व में विशुद्ध रूप से वाणिज्यिक माना जाता था; और ऐसे वाणिज्यिक कार्यों से संबंधित दस्तावेज, जिन्हें राज्य सामाजिक कल्याण की नीतियों के अनुसरण में करता है, वे भी 'राज्य के कार्यों' से संबंधित दस्तावेजों के रूप में विशेषाधिकार का दावा

करने के योग्य हो सकते हैं। इसी प्रकार के दस्तावेजों के संदर्भ में हम धारा 123 के अनुप्रयोग की सीमा-रेखा (marginal line) तक पहुँचते हैं; और ऐसे सीमांत (border-line) मामलों में विशेषाधिकार के दावे का निर्धारण करना ही वह स्थिति है जहाँ वास्तविक कठिनाई उत्पन्न होती है।

17. तथापि, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जहाँ विधायिका ने जानबूझकर 'राज्य के कार्य' (affairs of State) की अभिव्यक्ति को परिभाषित करने से परहेज़ किया है, वहाँ न्यायिक निर्णयों द्वारा उस अभिव्यक्ति को किसी कठोर एवं सीमित परिभाषा में बाँधने का प्रयास करना अवांछनीय होगा। यह प्रश्न कि कोई विशिष्ट दस्तावेज या दस्तावेजों का कोई वर्ग इस विवरण के अंतर्गत आता है या नहीं, प्रत्येक मामले में न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत प्रासंगिक तथ्यों एवं परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। श्री सीरवाई के अनुसार 'राज्य के कार्य' सार्वजनिक कार्य के पर्यायवाची हैं, और उनका तर्क है कि धारा 123 किसी भी ऐसे दस्तावेज के उत्पादन पर सामान्य निषेध प्रदान करती है जो सार्वजनिक कार्य से संबंधित हो, जब तक कि उसके उत्पादन की अनुमति संबंधित विभागाध्यक्ष द्वारा न दी जाए। श्री सीरवाई ने यह तर्क दिया कि 'राज्य के कार्यों' से संबंधित दस्तावेज एक वंश (genus) का निर्माण करते हैं, जिसके अंतर्गत दो प्रकार (species) के दस्तावेज आते हैं–एक, जिनके प्रकटीकरण से सार्वजनिक हित को कोई क्षति नहीं होती, और दूसरे, जिनके प्रकटीकरण से सार्वजनिक हित को क्षति हो सकती है। प्रकटीकरण के परिणामों के आधार पर इन दोनों प्रकार के दस्तावेजों को क्रमशः निर्दोष (innocuous) और हानिकारक (noxious) कहा जा सकता है। श्री सीरवाई के अनुसार धारा 123 का प्रभाव यह है कि सार्वजनिक कार्य से संबंधित सभी दस्तावेजों के उत्पादन पर सामान्य निषेध है, इस अपवाद के साथ कि विभागाध्यक्ष ऐसे दस्तावेजों के उत्पादन की अनुमति दे सकता है जो निर्दोष हों और हानिकारक न हों। उनका यह भी तर्क है कि यह कल्पना करना संभव नहीं है कि यह धारा ऐसे हानिकारक दस्तावेजों के उत्पादन की अनुमति देने की परिकल्पना करती हो। इसी व्याख्या के आधार पर श्री सीरवाई धारा 123 और 1872 में समझे गए अंग्रेजी विधि के बीच समानता स्थापित करने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में, श्री सीरवाई के अनुसार धारा 123 के अंतर्गत विशेषाधिकार के दावे पर विचार करते समय न्यायालय का अधिकार क्षेत्र अत्यंत सीमित है, और अधिकांश मामलों में, यदि सभी में नहीं, न्यायालय को बिना प्रभावी परीक्षण के ऐसे दावे को स्वीकार करना होगा।

18. दूसरी ओर, श्री शास्त्री द्वारा यह तर्क दिया गया है कि 'राज्य के कार्यों से संबंधित दस्तावेज' (documents relating to any affairs of State) अभिव्यक्ति की संकीर्ण व्याख्या की जानी चाहिए और इसे केवल उन दस्तावेजों की श्रेणी तक सीमित किया जाना चाहिए जो हानिकारक (noxious) हों। इस श्रेणी के संबंध में भी यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि न्यायालय को दस्तावेज के स्वरूप का निर्धारण स्वयं करना चाहिए और आवश्यक होने पर यह जाँच करने से नहीं हिचकना चाहिए कि उसके प्रकटीकरण से सार्वजनिक हित को क्षति होगी या नहीं। यह तर्क न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाने तथा विभाग को प्रदत्त विवेकाधिकार के क्षेत्र को तुलनात्मक रूप से संकुचित करने का प्रयास करता है।

19. इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पक्षकारों के बीच विवादित प्रश्न पर तीन दृष्टिकोण संभव हैं। पहला दृष्टिकोण यह है कि यह विभागाध्यक्ष का निर्णय होगा कि दस्तावेज किस श्रेणी में आता है; यदि वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दस्तावेज निर्दोष (innocuous) है, तो वह उसके प्रस्तुतिकरण की अनुमति देगा; किन्तु यदि वह यह निष्कर्ष निकालता है कि दस्तावेज हानिकारक (noxious) है, तो वह ऐसी अनुमति देने से इंकार करेगा; इस स्थिति में न्यायालय की भूमिका लगभग नगण्य रहती है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि दस्तावेज के स्वरूप का निर्धारण न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए, और आवश्यक होने पर उसके प्रकटीकरण के संभावित परिणामों की भी जांच करनी चाहिए; इस दृष्टिकोण में न्यायालय का अधिकार क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक हो जाता है। तीसरा दृष्टिकोण, जो उपर्युक्त दोनों चरम स्थितियों को स्वीकार नहीं करता, यह है कि न्यायालय दस्तावेज के स्वरूप का निर्धारण कर सकता है, और यदि वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दस्तावेज हानिकारक श्रेणी का है, तो वह यह निर्णय विभागाध्यक्ष पर छोड़ सकता है कि उसका प्रस्तुतिकरण किया जाए या नहीं; क्योंकि धारा 123 की नीति यह नहीं है कि प्रत्येक हानिकारक दस्तावेज के मामले में विभागाध्यक्ष सदैव उसकी प्रस्तुति से इंकार ही करे। इन तीनों दृष्टिकोणों में से कौन-सा विधि की वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है, इसका निर्णय करने के लिए धारा 162 का परीक्षण आवश्यक होगा। अतः अब हम उस धारा की ओर अग्रसर होते हैं।

66. उक्त निर्णय का सार हमें इस अनिवार्य निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि वरीय (overriding) हित का स्वरूप सार्वजनिक होना चाहिए और केवल ऐसे ही मामलों में विशेषाधिकार (privilege) का दावा बनाए रखा जा सकता है। विशेषाधिकार का दावा स्वचालित या औपचारिक रूप से नहीं किया जा सकता, बल्कि उसे केवल उन्हीं

परिस्थितियों तक सीमित होना चाहिए जहाँ वास्तव में सार्वजनिक हित से संबंधित गंभीर चिंता विद्यमान हो। प्रत्येक मामले का मूल्यांकन उसके विशिष्ट तथ्यों के आधार पर पृथक रूप से किया जाना चाहिए और राज्य को यह पूर्णतः संतुष्ट होना चाहिए कि दस्तावेजों के प्रकटीकरण से सार्वजनिक हित को गंभीर क्षति या आघात पहुँचेगा।

67. हम आगे ***अमर चंद बुटैल बनाम भारत संघ38*** के निर्णय का भी उल्लेख करते हैं, जिसमें माननीय पी. बी. गजेन्द्रगडकर, मुख्य न्यायाधीश ने इस न्यायालय की ओर से यह अभिनिर्धारित किया कि केवल इस आधार पर कि कोई दस्तावेज राज्य के बचाव के प्रतिकूल जा सकता है, विशेषाधिकार (privilege) का दावा नहीं किया जा सकता। अतः विशेषाधिकार का दावा तभी किया जा सकता है जब वह *भारतीय साक्ष्य अधिनियम* में निहित आवश्यकताओं को कड़ाई से पूरा करता हो; अन्यथा, यदि न्यायालय प्रारंभिक परीक्षण के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विशेषाधिकार का दावा बनाए रखने योग्य नहीं है, तो राज्य को उक्त दस्तावेज का प्रकटीकरण करने का निर्देश दिया जा सकता है।

68. ***उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राज नारायण39*** में, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जिस सार्वजनिक हित के आधार पर साक्ष्य को रोके जाने की मांग की जाती है, उसका तुलनात्मक मूल्यांकन उस सार्वजनिक हित के साथ किया जाना चाहिए जो न्याय के प्रशासन में निहित है, जिसके अनुसार न्यायालयों को सभी प्रासंगिक सामग्री तक यथासंभव पूर्ण पहुँच प्राप्त होनी चाहिए। जब सार्वजनिक हित, इस दूसरे हित से अधिक प्रबल हो जाता है, तब ऐसे साक्ष्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। न्यायालय ने यह भी कहा कि उसे स्वप्रेरणा (proprio motu) से ही ऐसे साक्ष्य को बाहर करना चाहिए, जिसका प्रस्तुतिकरण सार्वजनिक हित के प्रतिकूल हो।

69. इस शताब्दी के और निकट आते हुए, इस न्यायालय ने *पीपुल्स यूनियन फॉर* ***सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ***40 में, *परमाणु ऊर्जा अधिनियम, 1962* के अंतर्गत कुछ संवेदनशील सूचनाओं के प्रकटीकरण के संदर्भ में, विशेषाधिकार (privilege) के दावे के लिए आवश्यक संकेतक मानदंड निर्धारित किए। इस विषय पर मार्गदर्शक अंश इस प्रकार है:

"70. जब विशेषाधिकार का दावा किया जाता है, तब न्यायालय को निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है–
(1) क्या वह दस्तावेज, जिसके संबंध में विशेषाधिकार का दावा किया गया है, वास्तव में

(अप्रकाशित) ऐसा दस्तावेज है जो 'राज्य के कार्यों' से संबंधित है; तथा
(2) क्या उस दस्तावेज की विषय-वस्तु का प्रकटीकरण सार्वजनिक हित के प्रतिकूल होगा?''

---

38. एआईआर 1964 एससी 1658
39. (1975) 4 एससीसी 428
40. (2004) 2 एससीसी 476

71. जब राज्य द्वारा किसी दस्तावेज के संबंध में विशेषाधिकार (privilege) का दावा किया जाता है, तब यह प्रश्न कि वह दस्तावेज विशेषाधिकार प्राप्त श्रेणी में आता है या नहीं, सबसे पहले न्यायालय द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए। न्यायालय उस संभावित क्षति के संबंध में जांच नहीं कर सकता जो उस दस्तावेज के प्रकटीकरण से सार्वजनिक हित को हो सकती है। प्रतिरक्षा (immunity) और विशेषाधिकार का दावा सार्वजनिक हित पर आधारित होना आवश्यक है।

72. यह धारा यह नहीं बताती कि प्रारंभिक प्रश्न–अर्थात् क्या दस्तावेज 'राज्य के कार्यों' से संबंधित है–का निर्णय कौन करेगा अथवा उसे किस प्रकार निर्धारित किया जाएगा; तथापि, इस संबंध में संकेत धारा 162 में प्राप्त होता है। धारा 162 के अंतर्गत, जिस व्यक्ति को किसी दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए समन किया गया है, वह बाध्य होता है कि...

उसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे, चाहे उसके प्रस्तुत किए जाने या उसकी ग्राह्यता के संबंध में कोई आपत्ति क्यों न हो। ऐसी किसी भी आपत्ति की वैधता का निर्णय न्यायालय द्वारा किया जाएगा।'

यह आगे यह भी कहता है कि–
'न्यायालय, यदि उचित समझे, तो दस्तावेज का निरीक्षण कर सकता है, जब तक कि वह राज्य के कार्यों से संबंधित न हो, अथवा उसकी ग्राह्यता का निर्धारण करने के लिए अन्य साक्ष्य ग्रहण कर सकता है।'

73 अप्रकाशित राज्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण से प्रतिरक्षा (immunity) का दावा करने के लिए यह आवश्यक है कि वे दस्तावेज 'राज्य के कार्यों' से संबंधित हों और उनका प्रकटीकरण राज्य के हित या सार्वजनिक हित के प्रतिकूल हो।

70. वर्तमान मामले में, अपीलीय प्राधिकारी ने यह नहीं नकारा कि सीवीसी की अनुशंसा वास्तव में अस्तित्व में थी; तथापि, उस अनुशंसा को विशेषाधिकार (privilege) का दावा करके प्रकट करने से इंकार किया गया। हमारे मत में, यह विशेषाधिकार का दावा पूर्णतः भ्रांत (misconceived) था। सीवीसी की अनुशंसा का "राज्य के कार्यों" (affairs of the State) से कोई संबंध नहीं था और, यदि भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 से मार्गदर्शन न भी लिया जाए, तब भी उसका राष्ट्रीय सुरक्षा से कोई संबंध नहीं था; कम-से-कम श्री पाटिल द्वारा ऐसा कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया। हम उनकी कठिनाई को समझते हैं कि इतने लंबे अंतराल (अपीलीय आदेश दिनांक 27 मार्च 2003) के बाद तथा विजया बैंक के वर्ष 2019 में प्रतिवादी में विलय हो जाने के कारण, ऐसी अनुशंसा तक पहुँचना उनके तथा प्रतिवादियों के लिए अत्यंत कठिन है। तथापि, यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि अपीलीय आदेश में, अनुशंसा को विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेज बताने के अतिरिक्त, यह स्पष्ट करने हेतु कोई कारण–और तो और, कोई ठोस कारण–प्रदर्शित नहीं किया गया कि उसे अपीलकर्ता से क्यों रोका जा सकता था। दिए गए कारण न तो प्रासंगिक हैं और न ही संतोषजनक। वास्तविक प्रश्न यह था कि ऐसी अनुशंसा अस्तित्व में थी या नहीं, न कि यह कि अपीलकर्ता ने उसे आंतरिक दस्तावेज मानकर अपनी चुनौती का आधार बनाया या नहीं।

71. हम ***डी. सी. अग्रवाल*** *(उपर्युक्त)* में व्यक्त मत से पूर्णतः सहमत हैं कि सीवीसी की अनुशंसा के आधार पर, उसकी प्रति अपीलकर्ता को उपलब्ध कराए बिना, प्रस्तावित दंड–अनिवार्य सेवानिवृत्ति–को सेवा से बर्खास्तगी में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। इस सीमा तक, अपीलीय आदेश विधिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है और उसे बनाए नहीं रखा जा सकता।

निष्कर्ष

72. सामान्य परिस्थितियों में, उपर्युक्त विचार-विमर्श के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह निर्देश दिया जा सकता था कि मामले को अनुशासनात्मक प्राधिकारी के पास पुनः भेजा जाए ताकि जांच को उस चरण से पुनः प्रारंभ किया जा सके जहाँ वह दूषित हुई थी, अर्थात् जांच अधिकारी को 1981 विनियमों के विनियम 6(17) का विधिवत् पालन करने हेतु निर्देशित किया जाए। तथापि, ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जो पुनर्वापसी (remand) का आदेश देने में बाधक हैं। प्रमुख कारण यह है कि विजया बैंक के प्रतिवादी में विलय तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही के

समापन के पश्चात् बीते लंबे समय के कारण अभिलेखों तक पहुँच उपलब्ध नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि अनुशासनात्मक कार्यवाही उस तिथि के बाद भी जारी रही जब अपीलकर्ता अधिवर्षिता (superannuation) की आयु प्राप्त कर चुका था। जिस अंतिम आदेश को हम पारित करने का प्रस्ताव करते हैं, उसके दृष्टिगत हमने अनुच्छेद 16 (उपर्युक्त) में उल्लिखित तृतीय प्रश्न पर विचार नहीं किया है और उसे खुला रखा गया है। अतः पुनर्वापसी का आदेश देने से कोई उपयोगी उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

73. अपीलकर्ता की आयु (वह अब अस्सी वर्ष से अधिक आयु के हैं) तथा इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि उसके विरुद्ध अन्य अनुशासनात्मक कार्यवाहियाँ भी लंबित थीं, जिन्हें उसके सेवा से बर्खास्त किए जाने के कारण तार्किक परिणति तक नहीं पहुँचाया गया, हमारे विचार में न्याय के हित की पर्याप्त पूर्ति निम्नलिखित निर्देशों द्वारा की जा सकती है–

(i) अपीलकर्ता किसी भी अंतिम सेवा-लाभ (terminal benefits) का अधिकारी नहीं होगा, सिवाय इसके कि नीचे निर्दिष्ट सीमा तक;

(ii) वह केवल एकमुश्त (lump-sum) राशि प्राप्त करने का अधिकारी होगा, जो उस ग्रेच्युटी (gratuity) के समतुल्य होगी, जो उसे देय होती यदि उसके विरुद्ध बर्खास्तगी का आदेश पारित न किया गया होता;

(iii) उक्त एकमुश्त राशि इस आदेश की तिथि से आठ सप्ताह की अवधि के भीतर अपीलकर्ता के पक्ष में जारी की जाए;

(iv) उक्त राशि पर अपीलकर्ता को किसी भी प्रकार का ब्याज देय नहीं होगा;

(v) तथापि, यदि उक्त राशि उपर्युक्त निर्धारित अवधि के भीतर जारी नहीं की जाती है, तो उस पर 9% प्रतिवर्ष की दर से ब्याज देय होगा; तथा

(vi) इन परिस्थितियों में, बर्खास्तगी का आदेश निरस्त (quashed) माना जाएगा।

73. तदनुसार आदेश दिया जाता है।

74. उपर्युक्त परिणामस्वरूप, उच्च न्यायालय का विवादित आदेश भी निरस्त किया जाता है।

75. अपील उपर्युक्त शर्तों के अनुसार निस्तारित की जाती है, बिना किसी व्ययादेश (costs) के।

76. अपीलकर्ता के विरुद्ध लंबित कोई भी आपराधिक कार्यवाही, यदि कोई हो, विधि के अनुसार तार्किक परिणति तक पहुँचाई जा सकती है।

मामले का परिणाम: अपील खारिज

† हेडनॉट्स अंकित ज्ञान द्वारा तैयार किया गया।

यह अनुवाद पियूष आनंद, पैनल अनुवादक द्वारा किया गया है|